

RNI Ref. No. 1317262

Title Code No. RAJSAN00021

# शास्त्रसुधानिधिः

Yearly Refereed Research Journal

वार्षिकी संस्कृतशोधपत्रिका



संस्थापक: प्रधानसम्पादकश्च

प्रो. प्रभावती चौधरी

संस्कृतविभागाध्यक्षः

जयनारायणव्यासविश्वविद्यालयः, जोधपुरम् (राज.)

प्रथमोऽङ्कः

मार्च, २०१७



सन् 1962 में विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही स्नातक स्तर (बी.ए.) पर संस्कृत के अध्यापन का प्रारम्भ हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत हुआ तथा सन् 1966 में स्नातकोत्तर (एम.ए.) अध्यापन के साथ संस्कृत-विभाग स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आया। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सुरजन दास स्वामी प्रथम अध्यक्ष बने। तत्पश्चात् प्रो. रसिक विहारी जोशी, डॉ. कल्याण भारती, प्रो. दयानन्द भार्गव, डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, प्रो. दयानन्द भार्गव, प्रो. श्री कृष्ण शर्मा, प्रो. नरेन्द्र अवस्थी, प्रो. धर्मचन्द जैन, प्रो. सत्यप्रकाश दुबे आदि ने विभागाध्यक्ष का दायित्व सम्भाला। सम्प्रति प्रो. प्रभावती चौधरी विभागाध्यक्ष दायित्व का निर्वहन कर रही हैं। सभी अध्यक्षां ने विभाग को विभिन्न शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ आगे बढ़ाया। वर्तमान में संस्कृत विभाग में साहित्य, व्याकरण एवं दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विषय विशेषज्ञ छः आचार्य कार्यरत हैं— प्रो. धर्मचन्द जैन, प्रो. सत्यप्रकाश दुबे, प्रो. प्रभावती चौधरी, प्रो. सरोज कौशल, प्रो. मंगलाराम, प्रो. यादराम मीना। विभाग में दो पी.डी.एफ. एक एस.आर.एफ., चार जे.आर.एफ., चार आर.जी.एन.एफ. सहित कुल 62 विद्यार्थी विभिन्न विषयों पर शोध कर रहे हैं।

पं. मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठ, संस्कृत-विभाग के अन्तर्गत ही स्थापित है। यह शोध प्रकोष्ठ सन् 1990 से अद्यावधि महत्वपूर्ण प्रकाशनों एवं सङ्ग्रहितियों के आयोजनों में संलग्न है। इस प्रकोष्ठ के द्वारा 17 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकोष्ठ के तत्वावधान में अनेक सङ्ग्रहितियों एवं कार्यशालाओं का भी आयोजन किया जा चुका है।

अधिक जानकारी हेतु सम्पर्क करें -

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग:  
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय:  
जोधपुरम् (राजस्थान)  
मो. 94148-79035  
E-mail : drprabhaa@gmail.com  
hodssk@jnvu.edu.in  
Website : www.jnvu.edu.in



## शास्त्रसुधानिधिः

- \* अप्रेलमासतः मार्चमासं यावत्
- \* सम्पादकमण्डलस्य संयोजकः – डॉ. धर्मचन्द्र जैनः
- \* पत्रिकायामस्यां प्रकाशिताः लेखकीयविचाराः स्वायत्ताः सन्ति। प्रकाशक-विश्वविद्यालय-सम्पादकानां रीति-नीतिगतसम्मतिः नानिवार्या।
- \* पाठक-विचाराः सादरमामन्त्र्यन्ते।
- \* अङ्कस्यास्य सङ्कल्पना आवरणसज्जा च प्रधानसम्पादकेन विहिताऽस्ति।
- \* संस्थागतसदस्यताशुल्कः : 1500 रूप्यकाणि।
- \* व्यक्तिगतसदस्यताशुल्कः : 1000 रूप्यकाणि।
- \* पञ्चवर्षात्मकसदस्यतावधिः सुनिश्चितो वर्तते।
- \* संस्थागतवार्षिकमूल्यम् – 500 रूप्यकाणि।
- \* व्यक्तिगतवार्षिकमूल्यम् – 300 रूप्यकाणि।
- \* प्रत्येकाङ्कस्य कृते प्रतिवर्षानुसारं प्रकाशनयोग्यसामग्रीसंग्रहणस्य अन्तिमा तिथिः : (31 दिसम्बर) सुनिश्चितास्ति।
- \* सर्वाधिकाराः – प्रकाशकाधीनाः
- \* प्रकाशकः – संस्कृतविभागः, जयनारायणव्यासविश्वविद्यालयः, जोधपुरम्
- \* प्राप्तिस्थानम् – अध्यक्षः, संस्कृतविभागः, जयनारायणव्यासविश्वविद्यालयः, जोधपुरम्

मुद्रकः

क्रिएशन पॉइण्ट,

रामेश्वरनगरम्, बासनी प्रथम, जोधपुरम्



## बोधिचर्यावतार में निरूपित प्रज्ञा पारमिता : एक विमर्श

डॉ. श्वेता जैन

बौद्ध धर्म के महान् आचार्य शान्तिदेव रचित बोधिचर्यावतार महायान का प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसमें बोधिसत्त्व की चर्या विषयक षट् पारमिताओं का विवेचन है। भावी बुद्ध या बोधि के लिए यत्नशील प्राणी के अर्थ में बोधिसत्त्व शब्द का प्रयोग प्राचीन पालि साहित्य में अनेकत्र हुआ है। दीघनिकाय के महापदान सुत्त और मज्झिमनिकाय के अच्छरियबभुतधम्म सुत्त आदि अनेक सुत्तों में बुद्ध होने से पूर्व जब मैं बोधिसत्त्व था इस प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं। अतः भगवान् बुद्ध अपने पूर्व जन्मों में जब बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए साधना कर रहे थे, उस समय वे बोधिसत्त्व थे। बोधिसत्त्व ही आगे चलकर बुद्ध बनता है। जातककथा में बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित अर्थात् बोधिसत्त्वों की कहानियाँ हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व का विचार पालि साहित्य में सुप्रतिष्ठित है, परन्तु महायान ने दश भूमियाँ और षट् पारमिताओं के साथ एक निश्चित और व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में इसे विकसित किया है।

बोधिसत्त्व दश भूमियों पर आरोहण करते हुए पारमिताओं का अभ्यास करता है। इन पारमिताओं का आचरण वह इस जन्म में ही नहीं पूर्व के कई जन्मों से करता है। पारमिता के स्वरूप व परिणाम के सम्बन्ध में हीनयान और महायान में कोई भेद नहीं है। दोनों ही सम्प्रदाय में मुक्ति के अभ्यास में इसे आवश्यक बतलाया गया है किन्तु संख्या में मतभेद है। हीनयानी १० पारमिताओं को तथा महायानी ६ पारमिताओं को स्वीकार करते हैं। पारमिताओं का अभ्यास करने वाले बोधिसत्त्व को हीनयानी विलक्षण और अद्भुत महापुरुष मानते हुए भी मनुष्य स्वीकार करते हैं, किन्तु महायानी उनका सर्वथा अलौकिक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

पारमिता को पालि भाषा में पारमी कहा जाता है। जिसका अभिप्राय पूर्णत्व की प्राप्ति है। बोधिसत्त्व के लिए पारमिताओं का अभ्यास आवश्यक माना गया है। पालि साहित्य के सुत्तनिपात, जातक और नेत्तिपकरण आदि ग्रन्थों में पारमिताओं का वर्णन प्राप्त होता है। उच्चतम साधकों के 'पारमिपत्त' अर्थात् पारमिता-प्राप्त या पूर्णता-प्राप्त होने की

---

पोस्ट डॉक्टरल फेलो, यू.जी.सी, नई दिल्ली एवं संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

बात वहाँ कही गयी है। स्थविरवाद में दश पारमियों या पारमिताओं का वर्णन है। यथा – दान, शील, निष्कामता, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा। इनमें से दान, शील, निष्कामता, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा—इन सात पारमिताओं का २५ पूर्वजन्मों में भगवान् बुद्ध द्वारा पालन करना पालि ग्रन्थ ‘चरियापिटक’ में बतलाया गया है। जातकों की कहानियाँ पारमिताओं के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। उन्हीं के विकास स्वरूप महायान में पारमिताओं का सिद्धान्त विस्तृत रूप में गृहीत हुआ है। महायान साहित्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, दिव्यादान, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में छः पारमिताओं का उल्लेख है। इसी क्रम में सातवीं शताब्दी के महान् आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में बोधिचित्तोत्पाद हेतु सप्तविध अनुत्तर पूजा के विधान और अनुमोदन के साथ छः पारमिताओं का विस्तृत एवं गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रथम स्थान दान का है। बोधिसत्त्व द्वारा ग्रहण की गई सभी वस्तुओं के साथ त्यागचित्तता का उत्पन्न होना दानपारमिता है। प्राणातिपात आदि सब गृहीत कार्यों से चित्त की विरति शीलपारमिता है। परकृत अपकार को सहन करना और उसका प्रत्यपकार न करना क्षान्तिपारमिता है। कुशल कर्म करने में उत्साह होना वीर्यपारमिता है। ध्यानपारमिता में चित्तैकाग्रता, समापत्तियाँ, दो सत्य का अनुसन्धान तथा स्मृत्युपस्थान सङ्गृहीत है। ध्यान द्वारा समाहित हुए चित्त से ही यथाभूत परिज्ञान या निःस्वभावता अथवा शून्यता का बोध होता है, यही प्रज्ञा पारमिता है।

इन छः पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता ज्ञानसम्भार एवं शेष पाँच पारमिताएँ पुण्यसम्भार मानी जाती हैं। ये पाँचों पारमिताएँ ‘उपाय’ और प्रज्ञा पारमिता ‘प्रज्ञा’ भी कहलाती हैं। प्रज्ञा और उपाय अथवा पुण्यसम्भार एवं ज्ञानसम्भार का बुद्धत्व की प्राप्ति में समान रूप से योगदान होता है। केवल प्रज्ञा या केवल उपाय से सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसके सम्बन्ध में प्रज्ञाकरमति अपनी पञ्जिका में उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि आर्यशतसाहस्री प्रज्ञापारमिता में भगवान् कहते हैं— हे सुभूति! सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल चार द्वीपों को प्रकाशमान करते हैं वैसा ही प्रज्ञापारमिता का कार्य पञ्चपारमिता में दृग्गोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञा पारमिता से रहित होने पर पञ्च पारमिताएँ ‘पारमिता’ के नाम से नहीं पुकारी जा सकतीं। प्रज्ञा पारमिता अन्य पाँच पारमिताओं को अभिभूत करती है, जो जन्म से अन्धे हैं, उनकी संख्या चाहे जितनी भी क्यों न हो, मार्गप्रदर्शक के बिना वे मार्गावतरण में असमर्थ होते हैं। अतः दानादि पाँच पारमिताएँ नेत्र विकल होने से बिना प्रज्ञा चक्षु की

सहायता के बोधिमार्ग में अवतरित नहीं हो सकतीं जब पञ्च पारमिताएँ प्रज्ञापारमिता से परिगृहीत होती हैं, तभी सचक्षुष्क होती हैं। जैसे क्षुद्र नदियाँ गङ्गा नामक महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा पारमिता से परिगृहीत हो और उसका अनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती हैं।<sup>1</sup>

षट्पारमिताओं में प्रथम दानपारमिता, द्वितीय शीलपारमिता, तृतीय क्षान्तिपारमिता, चतुर्थ वीर्यपारमिता, पञ्चम ध्यानपारमिता और षष्ठ प्रज्ञापारमिता – यह क्रम रखा गया है। अन्त में प्रज्ञा पारमिता होने से यह साध्य के रूप में तथा अन्य प्रथम पाँच पारमिताएँ साधन के रूप में प्रतीत होती हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। सत्त्व में दुःख से मुक्त होने का पहला विचार ही उसमें प्रज्ञा उत्पन्न कर देता है। धीरे-धीरे यह प्रज्ञा निरन्तर विकास को प्राप्त होती है और उसमें दानादि पारमिताओं का योग रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रज्ञा का पूर्ण विकास ही बोधि प्राप्ति है, मुक्ति है।

पिटक साहित्य में 'प्रज्ञा' प्रज्ञापारमिता के रूप में उल्लिखित नहीं है, किन्तु शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में विवेचित है। पिटककाल के अनन्तर चौथी-पाँचवीं शती में बुद्धघोष द्वारा रचे गये विशुद्धिमग्गो में 'प्रज्ञा निर्देश' के अन्तर्गत प्रज्ञा का स्वरूप, लक्षण, कार्य, प्रकार, गुण आदि का विशद निरूपण है। इस प्रकार हीनयान के ग्रन्थों में प्रज्ञापारमिता पर अल्प लेखन हुआ है, इसके विपरीत महायान के ग्रन्थों का प्रारम्भ ही प्रज्ञापारमिता सूत्रों से हुआ और बाद में इन ग्रन्थों पर कई टीकाएँ एवं व्याख्याएँ हुई हैं। परिणामतः महायान सम्प्रदाय में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का अत्यधिक महत्त्व है। सभी धर्मों की निःस्वभावता प्रज्ञापारमितासूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के अनुसार परमार्थतः सभी कुछ शून्य है। प्रज्ञापारमिता और बोधिसत्त्व इन शब्दों का भी कोई वास्तविक अर्थ नहीं है। भावना करने वाला चित्त स्वयं अचित्त एवं भास्वर है। निर्विकारता एवं निर्विकल्पता ही अचित्तता है। कोई भी धर्म प्रज्ञापारमिता तक स्वभाव संयुक्त नहीं है। स्वभाव भी निःस्वभाव है। अविद्यमान धर्मों की विद्यमानतया प्रतीति ही अविद्या है। न महायान और न बुद्ध वास्तविक हैं। सब धर्मों का अनुत्पाद ही सत्य है। अतएव सभी धर्मों में अनिश्रय ही प्रज्ञापारमिता का मर्म है। २ शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में अष्टसाहस्रिका की अपेक्षा अतिशयोक्ति व वर्णाद्वयता की बहुलता है। महायान में मान्य प्रज्ञापारमिता सूत्रों की संख्या अत्यधिक है। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता से लेकर एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता तक ये सूत्र प्राप्त होते हैं। प्रज्ञापारमितासूत्र में प्रमुखतः भगवान् बुद्ध द्वारा गृध्रकूट पर्वत पर द्वितीय धर्मचक्र के काल में उपदिष्ट देशनाएँ हैं। जिसके दो पक्ष हैं – दर्शनपक्ष और साधना पक्ष।

दर्शनपक्ष को प्रज्ञापक्ष या शून्यता पक्ष कहा जाता है तथा साधना पक्ष को उपाय पक्ष या करुणा पक्ष भी कहा जाता है। आरम्भिककाल में पारमिताओं की सामान्यतः प्रशंसा और उनकी साधना करने की प्रेरणा कथा साहित्य के रूप में प्रकाश में आई। तदनन्तर दार्शनिक युग के प्रारम्भ होने पर प्रज्ञारूप पारमिता के दार्शनिक प्रतिपादन की आवश्यकता अनुभूत हुई। फलतः नागार्जुन ने प्रज्ञापारमिता सूत्रों के आधार पर मूलमाध्यमिककारिका आदि ग्रन्थों में शून्यता दर्शन को युक्तियों द्वारा प्रतिष्ठापित किया, जिसे आगे चलकर उनके अनुयायियों ने और अधिक विकसित किया। बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव ने इसी परम्परा का निर्वहन किया है। इस रचना में उन्होंने उपाय पक्ष का निरूपण आर्य मैत्रेयनाथ एवं आर्य असङ्ग के अनुसार तथा प्रज्ञा पक्ष का निरूपण आर्य नागार्जुन, आर्यदेव एवं चन्द्रकीर्ति के मतानुसार किया है। बोधिचर्यावतार का प्रज्ञापारमिता नामक नवम परिच्छेद विषय और अर्थ निर्धारण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण परिच्छेद है। जिस पर प्रज्ञाकरमति ने सर्वप्रथम पञ्जिका लिखकर प्रज्ञा विषयक गम्भीरता को स्वीकार किया है। १६८ श्लोकों में निबद्ध इस अध्याय में दार्शनिक विवेचन के साथ प्रज्ञा के आचरण पक्ष पर भी बल दिया गया है। इसमें सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक जैसे बौद्धेतर मतों का ही नहीं वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद नामक बौद्धमतों के आक्षेपों का भी निराकरण द्रष्टव्य है।

शून्यता का ज्ञान ही प्रज्ञा है। प्रज्ञाकरमति इसके लक्षण में कहते हैं—प्रज्ञा यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्त्वप्रविचयलक्षणा अर्थात् अपने प्रतीत्य से समुत्पन्न यथारूप वस्तु को खण्ड-खण्ड करके जानने वाली दृष्टि प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा सत्यद्वय रूप है, जिसका आश्रय ग्रहण करके भगवान् बुद्ध ने धर्मदेशना की है। इसका प्रमाण मूलमाध्यमिककारिका का निम्न श्लोक प्रस्तुत करता है—

**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।**

**लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥**

—माध्यमिककारिका, ४६४

संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के द्वारा इस जगत् की वास्तविकता को, यथार्थ को समझा जाता है। सत्यद्वय में परमार्थ तत्त्व निष्प्रपञ्च एवं बुद्धि से अगोचर है तथा संवृति तत्त्व जगद्विषयक प्रपञ्च बुद्धि है।

जगत् के सभी पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है— सांवृतिक और पारमार्थिक। संवृति-सत्य का द्रष्टा पारमार्थिक सत्य को नहीं समझ सकता किन्तु परमार्थसत्य का द्रष्टा संवृति और परमार्थ दोनों को अनुभूत करता है। यथा— स्वप्न में हम जो

कुछ देखते हैं, उसका मिथ्यात्व जाग्रत अवस्था में ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार संवृति को मृषा प्रमाणित करने के लिए उन युक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता जो सांवृतिक अवस्था की है। केवल परमार्थ सत्य के अधिगम से ही संवृतिसत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जब तक परमार्थसत्य की उपलब्धि नहीं होती, तब तक सब युक्तियाँ संवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिए अपर्याप्त हैं।

परमार्थसत्य वस्तु की निःस्वभावता है। निःस्वभावता के बोध हेतु 'स्वभाव' को समझना आवश्यक है। शून्यवादियों के मत में स्वभाव अकृत्रिम तथा निरपेक्ष होता है। किन्तु जगत् में मान्य स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं सापेक्ष होने से कृत्रिम है। प्रत्यय से उत्पन्न जागतिक स्वभाव वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि जो कारणवश उत्पन्न होता है उसकी स्वतन्त्र या स्वाभाविक उत्पत्ति नहीं होती, अतः उसमें उत्पत्ति स्वभाव नहीं होता है। उत्पत्ति के अभाव में विनाश का भी अभाव स्वतः सिद्ध होता है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश दोनों के अभाव में प्रतीत्यसमुत्पन्न जगत् अवास्तविक या शून्य प्रतिपादित होता है। सापेक्ष स्वभाव के अभाव में परभाव भी नहीं हो सकता। स्वभाव और परभाव के न होने पर भाव नहीं हो सकता तथा भाव के न होने पर अभाव भी नहीं हो सकता। अतः स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव न मानना ही निःस्वभावता है, शून्यता है। इसी को निष्कर्ष रूप में आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—

**एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा।**

**अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥**

—बोधिचर्यावतार, ६.१५०

स्वभाव से उत्पन्न न होने की परीक्षा से सिद्ध होता है कि स्वभावतः न पदार्थ हैं, न उनकी उत्पत्ति है और न निषेध है। अतः यह समस्त जगत् सर्वदा अजात, अनिरुद्ध और स्वभाव से परिनिर्वृत है।

बौद्धों में चार आर्यसत्यों की चर्चा बहुधा होती है, किन्तु उनका भी अन्तर्भाव सत्यद्वय में हो जाता है। दुःख, दुःख-समुदय और मार्ग—ये तीनों संवृति सत्य में तथा निरोधसत्य परमार्थसत्य में अन्तर्निहित है।<sup>१</sup> तत्त्वज्ञान की दृष्टि से घट आदि समस्त विषय एवं चक्षुर्विज्ञान आदि विषयी मिथ्या हैं, परन्तु संवृतिसत्य हैं, इनकी व्यावहारिक सत्ता होती है और ये अविस्वादक भी होते हैं। संवृति सत्य के दो भेद हैं— तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। घटादि सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएँ, जो किसी लौकिक ज्ञान या प्रमाण द्वारा

बाधित नहीं हैं, तथ्यसंवृति कहलाती हैं। रज्जु में सर्प, मरीचि में जल तथा शुक्ति में रजत आदि वस्तुएँ मिथ्या संवृति हैं, जो व्यावहारिक ज्ञान द्वारा बाधित हो जाती हैं।<sup>१</sup> संवृति और परमार्थ सत्य के आधार पर शान्तिदेव ‘लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा’<sup>२</sup> कहकर लोक अर्थात् व्यक्तियों को दो प्रकार के बतलाते हैं— योगी तथा प्राकृतक। योगी तत्त्व को यथा रूप देखता है और प्राकृतक प्रकृति अर्थात् अविद्या से आवरित होने के कारण वस्तुतत्त्व को विपरीत भाव से देखता है।

बोधिचर्यावतार में ‘प्रज्ञापारमिता’ विषयक दर्शन का सूक्ष्म, तार्किक एवं गम्भीर प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ में सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद के मत में स्वीकृत संसार के स्वरूप को रेखाङ्कित कर उसमें रहे हुए दोषों को उजागर कर यह बताने का प्रयत्न किया है कि एक प्रज्ञावान् व्यक्ति संसार को कैसे देखता है, किस प्रकार उसे प्रत्येक तत्त्व में शून्यता के दर्शन होते हैं और वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। बौद्ध मतों के अतिरिक्त सांख्य के आत्मा के ज्ञानात्मक स्वरूप, प्रकृति, सत्कार्यवाद का, नैयायिकों के नित्य एवं अचेतन आत्मा का, वैशेषिकों के नित्य परमाणुओं का खण्डन किया है।

बौद्धेतर मतों के निराकरण में आचार्य ने आत्मा या अहं के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट कहा है— यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद् भागशः कृतः, तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो न लभ्यते<sup>३</sup> अर्थात् कदली स्तम्भ को बाहर से उधेड़ते जाने पर अन्त में कुछ नहीं रहता, वैसे ही परीक्षा से खोजने पर परमार्थतः अहम् भी नहीं मिलता।

इसी परिप्रेक्ष्य में सन् १६८१ में बोधिचर्यावतार पर दिए गए चौदहवें दलाई लामा तेनजिन ग्याछो के प्रवचनांश यहाँ श्रोतव्य है<sup>४</sup>— शरीर और चित्त को अहं नहीं सिद्ध कर सकते तो इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर और मन से पृथक् या असम्बन्धित कोई अहं है। यदि अहं होता तो इन्हीं पर या इनसे सम्बन्धित अवश्य होना चाहिए, क्योंकि अहं की कल्पित धारणा से आसक्ति तो उन पर उत्पन्न हो और अहं स्वयं कहीं ओर रहे, ऐसा असम्भव है। इसलिए शरीर के सिर से पैर तक प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग और त्रैकालिक प्रत्येक विज्ञान की परीक्षा करके खोजने पर यह अहं, मैं या आत्मा कहीं नहीं मिलता। परन्तु मनुष्य से लेकर कीड़े-मकोड़े तक यह आत्मधारणा बनी हुई है कि मुझे सुख चाहिए, मुझे दुःख नहीं चाहिए। ऐसी धारणा जब हर एक चेतन में है तो निश्चित रूप से कल्पित आत्मा होता है। इसलिए खोजने पर मिल नहीं सकता। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी धर्म मात्र कल्पित हैं, शब्द मात्र हैं, अन्य प्रत्यय पर निर्भर हैं, परतन्त्र हैं, व्यवहार मात्र हैं। इसलिए स्वभाव से सिद्ध

नहीं हैं, शून्य हैं, निरात्मक हैं।

सांख्य के मत में सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति कहते हैं और उनकी वैषम्यावस्था ही जगत् है। इसप्रकार नित्य प्रधान जगत् का हेतु सिद्ध होता है।

इसके खण्डन में आचार्य तर्क देते हैं कि एक प्रधान के तीन स्वभाव होने का अर्थ यह हुआ कि वह परमार्थ सत् नहीं हैं। इस तरह गुण भी परमार्थसत् नहीं हो सकते, क्योंकि उनके भी स्वभाव तीन प्रकार के हैं। जब गुण ही नहीं रहे तो प्रकृति की स्थिति कैसे सम्भव है।<sup>१८</sup>

सत्कार्यवाद के निरसन में आचार्य कहते हैं कि हेतु के समय भी फल अव्यक्तावस्था में रहता है, इसका अर्थ है कि हेतु फल स्थित है। यदि ऐसा है तो अन्नभक्षी को मलभक्षी कहना चाहिए तथा कपड़े न खरीदकर कपास के बीजों को खरीदकर पहनना चाहिए।<sup>१९</sup> इसप्रकार आपका सिद्धान्त व्यवहारयोग्य न होने से दोषयुक्त है।

वस्तु की स्थिति को स्वीकार किये बिना भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्य, अनित्यता, दुःखमयता, शून्यता आदि की देशना व्यर्थ सिद्ध हो जाएगी। सर्वास्तिवादी या वस्तुवादी की इस शङ्का के समाधान में आचार्य कहते हैं— **न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः**<sup>१०</sup> साधारण लोग वस्तु की क्षणिकता को, उसकी शून्यता को नहीं जानते परन्तु तत्त्वद्रष्टा योगियों के लिए ऐसा कोई प्रतीतिविरोध दोष नहीं है। क्योंकि वस्तु को शून्य मानकर भी चार सत्य आदि की देशना योगियों की दृष्टि में व्यर्थ नहीं होती। अतः भावाभिनिवेशी सत्त्वों को शून्यता का गम्भीर तत्त्व समझाने के लिए ही भगवान् ने सांवृतिक व्यवहार का यथाप्रसङ्ग वर्णन किया है, इन्हें वास्तविक मानकर नहीं।

सर्वास्तिवादी प्रश्न करते हैं— शून्यतासाक्षात्कार के बिना बोधि की प्राप्ति नहीं होती— ऐसा आपके शास्त्र में बार-बार कहा गया है, परन्तु महायान के इन आगमों को हम प्रमाणभूत नहीं मानते तो इसको कैसे स्वीकार करें?<sup>११</sup> उत्तर में कहते हैं— **‘यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु’**<sup>१२</sup> जिन कारणों से आप अपने भगवदुपदिष्ट आगम में श्रद्धा करते हैं, उन्हीं कारणों को महायान के आगमों में जानकर श्रद्धा कीजिये। पश्चिजकाकार ने श्रद्धा के वे चार कारण निम्न कहे हैं<sup>१३</sup>— १. आगम सार्थक है, निरर्थक नहीं। २. धर्म का प्रतिपादक है, अधर्म का नहीं। ३. क्लेशों का नाशक है, क्लेशवर्द्धक नहीं। ४. निर्वाण-माहात्म्य का दर्शक है, संसार का नहीं।

एक अन्य प्रश्न में सर्वास्तिवादी आक्षेप करते हैं— **मायोपमाजिनात् पुण्यं**

सद्भावेऽपि कथं यथा<sup>१५</sup> सभी धर्म, सत्त्व आदि मायोपम होने से यदि बुद्ध भी मायोपम हैं तो मायोपम भगवान् के साथ किये गये सत्कारादि से प्राप्त पुण्य और अपकारादि से प्राप्त पाप की व्यवस्था कैसे बनेगी ?

प्रत्युत्तर में पंजिकाकार कहते हैं— यथा कस्यचित् परमार्थसतो परमार्थसत् पुण्यमुपजायते, तथा अन्यस्य मायोपमान्मायोपममेवेत्यावयोर्न कश्चिद्विशेषः, इदमप्रत्ययतामात्रस्योभयसाधारणत्वात्<sup>१६</sup> आपके मत में परमार्थसत् भगवान् की पूजा से परमार्थ सत् पुण्य होता है, वैसे ही हमारे मत में मायोपम भगवान् की पूजा से मायोपम पुण्य होगा। इन दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि 'इस हेतु से यह फल' अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू हैं।

इनका तीसरा प्रश्न है कि सभी सत्त्व मायोपम हैं तो जैसे स्वप्न में उपलब्ध या माया निर्मित पुरुष की हत्या से पाप नहीं होता, वैसे ही सांसारिक पुरुष की हत्या से भी कोई पाप नहीं होना चाहिए।<sup>१६</sup>

आचार्य शान्तिदेव कहते हैं— चित्तमायासमेते तु पुण्यपापसमुद्भवः<sup>१७</sup> अभिप्राय यह है कि मायापुरुष में चित्त नहीं होता, किन्तु निःस्वभाव या शून्य होने पर भी सांसारिक प्राणी में चित्त होता है। इसलिए उसकी हत्या से पाप होता है। साथ ही मायिक पुरुष के घात से यद्यपि प्राणातिपात नामक पातक नहीं लगता, फिर भी हिंसाचित्त के उत्पाद से अशुभ तो होता ही है।

विज्ञानवादी विज्ञान को ही सत्य मानते हैं। बाह्यार्थ का अस्तित्व स्वीकार न कर वे चित्त की आन्तरिक वासना से उद्भूत नाना प्रकार के धर्म अङ्गीकार करते हैं। माध्यमिक तर्क करते हैं आप बाह्यार्थ न मानकर अर्थात् बाहरी माया को न अङ्गीकार कर चित्त को ही मायामय मान लेते हैं तो ऐसे चित्त की कल्पना का क्या लाभ है ?

विज्ञानवादी प्रत्युत्तर देते हैं कि यदि आपके कहे अनुसार चित्त को मायोपम स्वीकार कर भी लें तो बताओ क्लेश की निवृत्ति कैसे होगी, जबकि देखा जाता है कि एक मायामय स्त्री के प्रति सामान्य व्यक्ति का ही नहीं उसके कर्ता का भी राग हो जाता है।<sup>१८</sup>

आचार्य शान्तिदेव इसके निराकरण में कहते हैं—

अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना।

तद् दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना॥

शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना।



**किञ्चिन्नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते।।<sup>१९</sup>**

माया स्त्री के निर्माता में ज्ञेय होने की वासना बनी रहती है, इसीलिए उसके दर्शन के समय शून्यता की वासना में बल नहीं होता और राग उत्पन्न होता है। परन्तु शून्यता की वासना स्थिर होने पर मायामय पदार्थों को भाव (सत्) समझने की वासना दुर्बल या सामर्थ्यहीन हो जाती है। और वह भाववासना भी शून्यतावासना का कोई आधार न होने के कारण अन्त में अभ्यासवशात् नष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त तात्त्विक चर्चा के निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता होती है, फिर भी उनका अन्वेषण करने पर उनकी निराधार सत्ता या अप्रतीत्य सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः परमार्थ सत्ता अनुपलम्भ है, फिर भी उनकी व्यावहारिक सत्ता होती है।

प्रज्ञा के दार्शनिक विवेचन के अनन्तर इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर भी आचार्य ने बल दिया है ताकि जागतिक व्यवस्थाएँ सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकें। जीवन के प्रत्येक क्षण में राग-द्वेष की प्रक्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। इन्द्रियों का विषय से संस्पर्श होते ही तत्क्षण चित्त में कोई संवेदना जागती है। उसके प्रिय होने पर राग और अप्रिय होने पर द्वेष जागता है। चाहे राग उत्पन्न हो अथवा द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिंचाव और उत्तेजना पैदा करते हैं। यही अविद्या है, दुःख का प्रवेश द्वार है। इस दुःख को दूर करने की प्रज्ञा या यों कहे जगत् की शून्यता अथवा निःस्वभावता की बोधि जाग्रत होती है तो प्राणी निम्न विचार करता है-

**एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हतं भवेत्।**

**सत्कृतः परिभूतो वा केन कः सम्भविष्यति।।**

**कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियं वा किमप्रियम्।**

**का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः।।<sup>२०</sup>**

सभी धर्मों के शून्य (निःस्वभाव) सिद्ध हो जाने पर, उस जगत् में हमको ऐसा क्या मिल गया कि हम उस पर हर्ष प्रकट करते हैं, क्या खोया या छीना गया कि हम उस पर क्रोध प्रकट करते हैं। किससे किसका सत्कार या अपमान सम्भव है। किससे सुख हो या किससे दुःख, किसे प्रिय मानें, किसे अप्रिय। विचार करने पर यह नहीं समझ में आ रहा है कि क्या तृष्णा करें और किस पर तृष्णा करें।

शून्य तत्त्व को न समझने का कुफल यही है कि अपने लिए सुखाभिलाषी लोग पुत्र-

कलत्रादि के वियोग से होने वाले शोक, सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के लिए अपने परिश्रम से श्रान्ति, लाभ-सत्कारादि न मिलने वाली उद्विग्नता से, आपस की मार-काट, तोड़-फोड़ के सहारे अपना जीवन कष्टपूर्वक ही बितायेंगे।<sup>११</sup> जैसे कोई बार-बार अत्यन्त ठण्डे पानी में डूबकर फिर सुख की इच्छा से बार बार अग्नि में तापते हैं और उसे सुख समझते हैं, वैसे ही सांसारिक लोग दुःख को सुख समझकर अजर और अमर की तरह विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे प्राणियों के मृत्यु सम्मुख होकर भयङ्कर से भयङ्कर दुखों का जाल फैला रही है।<sup>१२</sup> इसलिए स्वयं अपने दुःखों के शमन के लिए और विशेषकर प्राणिमात्र के उपकार के लिए बुद्धत्व चाहने वालों को सर्वजन हिताय प्रज्ञा उत्पन्न करनी चाहिए।

बौद्ध धर्म और दर्शन में प्रज्ञा का सिद्धान्त शीर्ष पर है। सभी बुद्धवचन शून्यता ज्ञान या प्रज्ञा के विकास के लिए है। क्षमा, शील, समाधि, चार आर्यसत्य आष्टाङ्गिक मार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि की सभी देशनाएँ प्रज्ञा पारमिता की उत्पत्ति के प्रयोजनार्थ हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध धर्म प्रज्ञा में ही समाहित है और प्रज्ञा से ही निःसृत है।

#### सन्दर्भ ग्रन्थाः —

1. सुभूते, सूर्यमण्डलं..... सर्वाकारज्ञता तेनानुगच्छन्ति।-बोधिचर्यावतार, 9.1 की पञ्जिका
2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, प्रो. जी. सी पाण्डेय, द्वितीय संस्करण, 1976, पृ. 335
3. दुःखसमुदयमार्गसत्यानि संवृतिस्वभावतया संवृतिसत्येऽन्तर्भवन्ति, निरोधसत्यं तु परमार्थ सत्ये इति न कश्चिदविरोधः।-बोधिचर्यावतार, 9.2 की पञ्जिका
4. बोधिचर्यावतार, 9.2 की पञ्जिका
5. बोधिचर्यावतार, 9.3
6. बोधिचर्यावतार, 9.75
7. बोधिचर्यावतार, प्रवचनकार- दलाईलामा, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, वाराणसी, 1998, पृ. 231-232
8. बोधिचर्यावतार, 9.129-130
9. बोधिचर्यावतार, 9.135-137
10. बोधिचर्यावतार, 9.8
11. बोधिचर्यावतार, 9.41
12. बोधिचर्यावतार, 9.43
13. चतुर्भिः कारणैः..... न संसारगुणानुशंससन्दर्शकम्।-बोधिचर्यावतार, 43 की पञ्जिका
14. बोधिचर्यावतार, 9.9
15. बोधिचर्यावतार, 9.9 की पञ्जिका
16. मायापुरुषधातादौ चित्ताभावान्न पापकम्-बोधिचर्यावतार, 9.11
17. बोधिचर्यावतार, 9.11
18. बोधिचर्यावतार, 9.31
19. बोधिचर्यावतार, 9.32-33
20. बोधिचर्यावतार, 9.152-153
21. बोधिचर्यावतार, 9.156
22. बोधिचर्यावतार, 9.165-166



## कर्मणः माहात्म्यम् (महाभारतस्य प्रकाशे)

डॉ. कामदेव झा

कृत्स्लं महाभारतं कर्ममाहात्म्यमेव प्रतिपादयति। कृष्णस्तत्र कर्मोपदेशकत्वेन प्रतिभाति। सम्पूर्णमिदं विश्वं श्रीकृष्णस्तत्रोपदिशति कर्ममाहात्म्यमिति। महाभारते अर्जुन-व्याजेन कर्मणः महन्महत्त्वं वर्णितं खलु। कर्मणा हीनो नरस्तु मृत इवैव किल। कर्म तु मनुष्यान् बोधयति पितेव। इदमेव कर्म शरीरमपि शक्तियुतं करोति। नैतिकं बलमपि प्रददाति। कर्मणा शोभते नरःभुवि। कर्महीनस्तु वसुधायाः भार एव। कर्म मनुष्येषु कर्तव्यस्य सञ्चारं कुरुते। कर्मकरणार्थमेव कृष्णस्यावतारः भुवि सञ्जात इति तु विदितमेव। कर्म कुर्वाणः मनुष्यः प्रातिष्ठत्येति अनेनैव कर्मणा विश्वगुरुत्वमधिगतवान् देशोऽयमिति। मनुस्मृतावपि डिमडिम घोषेण प्रोक्तं यत् भारतीयाः विश्वेऽस्मिन् परिभ्रम्य परिभ्रम्य वर्णधर्मदेशादिभेदभावान् विस्मृत्य शिक्षितवन्त इति भावः। यथोक्तं तत्र मनुस्मृतौ भेद-भावान् विस्मृत्य शिक्षितवन्त इति भावः। यथोक्तं तत्र मनुस्मृतौ—

एतदेश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥<sup>१</sup>

इत्यनेनावगम्यते यत् स्वकर्मणा चरित्रं पवित्रं कृत्वाऽथ च तेनैव चरित्रेणव सकल-मानवान् किलोपदिष्टवन्त इति भावस्तत्र वर्तते। यजुर्वेदेऽपि कर्ममाहात्म्यं वर्तत एव। तत्र तु शास्त्रोक्तकर्माणि कुर्वन् जीवनस्येच्छा प्रतिपादितेति। निष्क्रियो भूत्वा कदापि न भवेदिति। क्रियावान् पुरुष एवोपैति लक्ष्यमिति भावः।

यथोक्तं यजुर्वेदे— कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥<sup>२</sup>

निष्कामकर्माणि कुर्वन् कर्म नैव कदापि बन्धनाति बन्धन इति। यद्यपि राहुग्रस्तो भवति सूर्यस्तत्र परं नैव विरमति चलनादिति। प्रतिक्षणं स्वप्रचलनं कर्म करोत्येव। तथैव वीरपुरुषाः कुर्वन्त्येव कर्माणि सर्वदा। कापुरुषा एव दैवदैवेति वदन्तस्तिष्ठन्ति खलु। वस्तुतः कर्म-भूमिरियं वर्तते। अस्मिन् संसारे कर्मशीलजन एव प्राप्नोति परं पदमिति। भर्तृहरेः घोषोऽयं विद्यते यत् कर्मभूमिं सम्प्राप्य यः नैवाचरति तपस्तत्र स तु व्यर्थमेव जीवनं नयति किल। यथा प्रोक्तं तत्र—

---

प्राचार्यः, डी.ए.वी. कॉलेज, पिहोवा (कुरुक्षेत्रम्)

स्थाल्यां वैदुर्यमय्यां पचति तिलखातं चान्दनैरिन्धनौद्यैः।  
 सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।  
 छित्वा कर्पूरखण्डान्वृत्तिसिद्ध कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-  
 त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥<sup>३</sup>

भीष्मपर्वणि तत्र महाभारतस्य भगवता पुरुषोत्तमेन महता कण्ठेनोक्तं कर्म करणाय खलु। फलचिन्तारहितं कर्म सदैव भवति श्रेयस्करं किल। कर्मफलस्य हेतुस्तु नैव भवेत् सोऽपि यदा, तदैव श्रेयसः प्राप्तिरिति। एतदर्थं प्रोक्तं तत्र महाभारते—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥<sup>४</sup>

पौनः पुन्येन सङ्गस्य परित्यागाय प्रेर्यतेऽत्र। सङ्गस्तु घृणइव नाशयति मनुष्यान्। वनपर्वणि तु निर्दिष्टमेव यत् कर्म कृत्वा विस्मरेत् फलं खलु। वेदविहितनिर्देशस्तत्र दृश्यते। यथोक्तं तत्र—

‘तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।’<sup>५</sup> वस्तुतः बुद्धिमता सदैव कर्म करणीयमेव। फलेच्छां प्रविहाय कृतं कर्म सदा फलति। कर्महीनास्तु न केऽपि भवन्ति लोके। यथोक्तं तत्र—

कर्म खल्विह कर्त्तव्य जानताऽमित्रकर्शन।

अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः॥<sup>६</sup>

उद्योगपर्वणि प्रोक्तं यत् कर्मभूमिरियं वर्तते। फलभूमिस्तु परलोके वर्तते। कर्म क्रियतेऽत्र फलं प्राप्यतेऽन्यस्मिन् लोके। अतएव सदा सर्वदा सावधानेन करणीयं कर्मेति भावः। यथोक्तं तत्र—

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रौपभुज्यते।

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥<sup>७</sup>

वस्तुतः मनुष्यस्तु सदा कर्म कुर्वाणो तिष्ठति। कर्म निजकर्तारमपि सम्यग्भिजानाति। यथा वत्सः निज मातरमभिजानाति तद्वच्चाप्यत्र कर्मापि कर्तारं जानाति। यथोक्तमत्र—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।

तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥<sup>८</sup>

एतदर्थं सर्वदा सन्मार्गमनुगच्छन् निष्कामकर्म करणीयमिति। कृतकर्मणः भोगात् भवति क्षय इति। सद्गत्यर्थं सकामकर्म सदा त्याज्यमेव। शान्तिपर्वणि निगदितं यत् कर्मणा मनुष्यः बध्यते कर्मबन्धने। विद्यया विमुच्यते खलु। विद्ययैवामृतमेति खलु। विद्या मुक्ति-कारिकेति। यथा यजुर्वेदे तत्रोक्तम्—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।<sup>९</sup>

वस्तुतः अविद्यया मृत्युनर्दीं तीर्त्वा विद्ययैतामृतं प्राप्यत इति। यथा वेदे प्रोक्तं तथैवात्र महाभारतस्य शान्ति पर्वणि कथितं यत् विद्यया प्रमुच्यते बन्धनादिति भावः। कर्मबन्धन कारणम्। विद्यया प्रमुच्यते बन्धनादिति भावः। कर्मबन्धनकारणम्। विद्या मुक्तिदायिकेति ध्रुवम्। यथोक्तं तत्र महाभारते—

कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया च प्रमुच्यते।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः।<sup>१०</sup>

कर्म कुर्वाण एव मानवः सिद्धिमवाप्नोति। कर्म कुर्वन्नेव भुवि प्रसिद्धिमेति। श्रीकृष्ण-स्तत्र जनकमुदाहरति कर्मसिद्धिप्रसङ्गे। विहितानि कर्माणि कुर्वन्नेव नरः शोभते खलु। राजर्षिः जनकस्तत्र कथं सिद्धिमवाप्तवानिति द्योत्यतेऽत्र—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।<sup>११</sup>

शुभाशुभकर्मणः फलमपि कर्तैव प्राप्नोति न तु तस्य बान्धवा इति। अवश्वमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमिति तु प्रथितमेव जगति।

तदेवात्र शान्तिपर्वणि प्रोक्तमत्र—

यत्करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम्।

तत्कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र हि।<sup>१२</sup>

कर्मकर्तुरेव फलमपि भवति सक्तम्। न च त्यजति कर्तारम्/यद्यपि किं कर्तव्यं किं न कर्तव्यमत्र तु कवयोऽपि मोहिताः सन्तीति ध्रुवम्। कर्मप्रसङ्गे निगदत्यत्र श्रीकृष्णः—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽत्र मोहिताः।

तर्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।<sup>१३</sup>

अशुभमुक्तिः कथमत्र निर्दिशति खलु। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीतायाः घोषस्तत्र वर्तते यत् ‘गहना कर्मणो गतिः।’<sup>१४</sup> वस्तुतः कर्मणः गति चित्रैव। केचन एव विद्वांसस्तदवगच्छन्ति। साधारणमानवस्य तु कथैव का। अतएव मुक्तिद्वारं तत्र कर्मफलचिन्तनं विहाय कर्मकणे वर्तते। निष्कामकर्मैव मुक्तेः राजपद्धतिरिति। अस्यामेव पद्धतौ सञ्चरन् विन्दति मुक्तिं नर इति। यतोहि पुराऽपि मुमुक्षुभिस्तत्रास्मिन्नेव मार्गे मुक्तिः प्राप्तेति। कथितं तत्र—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।<sup>१५</sup>

सहजं कर्म करणार्थं प्रेरयति महाभारतम्। सर्वैस्तत्र वर्णैः करणीयानि स्व स्व कर्माणि खलु। इत्यनेन सर्वे वर्णास्तत्र यान्ति परमां गतिम्। एतदर्थमेव भीष्मपर्वणि निर्दिशति

श्रीकृष्णः किल—

सहजं कर्म कौन्तैय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेणाग्निरिवावृता॥<sup>१६</sup>

यद्यपि दोषयुतं स्यात्तदपि कार्यं नियतं कर्म। स्त्रीपर्वाणि तु स्फुटं कथितं यत् सर्वस्यामवस्थायां कृतं कर्म सक्तं कर्तरि भवत्येव। सर्वथाऽनुधावति कर्तारमेव न कोऽपि कर्मफलात् भवति मुक्त इति। कृतकर्मणः फलं मानवः प्राप्नोत्येव। यथोक्तं तत्र—

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।

अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वं कृतं नरम्॥<sup>१७</sup>

उपर्युक्तं वचनं वीक्ष्य स्फुटं भवति कर्मणः फलमिति। अतएव कर्म कृत्वा फलं विस्मरेदिति। फलविस्मरणादेव सद्गतिरिति। यः कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते। विना कर्मणा जीवनयात्राऽपि न प्रचलति। एतदर्थं सदैव निजनियतकर्माणि करणीयानीति। यथोक्तमत्र—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥<sup>१८</sup>

यादृशं कर्म भवति तादृशमेव फलमपि। पापपुण्ययोः फलं नैव नश्यति कदाचन। शुभं भवतु किलशुभं भवतु। नैव नश्यति कदापि। अतएव शुभकर्माण्येव करणीयानीति। यथोक्तं तत्र—

नहि नाशोऽस्ति वाष्ण्येय कर्मणोः शुभपापयोः॥<sup>१९</sup>

पुरुषार्थचतुष्टयमपि विना कर्मणा नैव प्राप्यं किल। एतदर्थमपि महता कर्मणा भवितव्यमिति। अनासक्तं कर्म न लिम्पति कर्मकर्तारं खलु कर्मैव तारयति लोकं कर्म एव तत्र बध्नाति। यः कोऽपि जानाति रहस्यमिदं स जयति लोकत्रयम्। प्रियाप्रियकर्मफलं कृत्वैव सम्प्राप्यते। कर्मकरणं विना नैवाप्नोति फलाफलमिति। यथा शान्तिपर्वणि प्रोक्तमपि —

नाकृत्वा लभते कश्चित् किञ्चिदत्र प्रियाप्रियम्॥<sup>२०</sup>

पूर्वजन्मनि कृतं कर्म यत् भवति तदनुकूलं लभते नरः फलमपि। हासं वृद्धिं चापि पूर्वकृतकर्मभिस्तत्र फले सम्प्राप्नोति नर इति। यथोक्तं तत्र—

प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च॥<sup>२१</sup>

उद्योगपर्वणि प्रोक्तं यत् फलाफलं सम्परीक्ष्यैव कर्माणि कर्तव्यानि। सम्परीक्ष्य करणेन शुभाशुभकर्म क्रियते। एतदर्थं तथैव कार्यं सर्वदा। यथोक्तमत्र—

किंनु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।

इति कर्माणि सिञ्चिन्त्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा॥<sup>२२</sup>

उपर्युक्तं वचनमनुसृत्य करणेन च नैतिकं बलं वर्धते। अहिंसाऽपि क्षीणतामेष्यति। आचारोऽपि पालनीयः स्यादिति। अतएव सदा सदाचारेण भवितव्यमिति भावः। महाभारतीयं वचः सदैव भवति शुभप्रदमिति। कर्महीना जनास्तु नारकीयं जीवनं जीवन्तीति। कर्महीनः नरस्तु नैवावाप्नोति किञ्चिदपि लोके। यज्ञादिकर्मणः फलानि कर्तारमेवानुगच्छन्ति। तपसः फलमपि स एवाश्नुते ध्रुवम्। शुभकर्मणः फलं न तु हासमेति न च नश्यति कदापि। यथोक्तं तत्रोद्योगपर्वणि—

**ददाति यत्पार्थिव यत्करोति यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति।**

**न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो नान्यस्तदश्नाति स एवकर्ता।<sup>२३</sup>**

वस्तुतः कर्मणः फलन्तु भवत्येव भोक्तव्यमिति। नैव कमपि परिहरति भोगादिति। संसारेऽद्य कुकर्माणि कुर्वाणास्तत्र जनाः पदे पदे वर्तन्ते। तेषां कृतेऽनुशासनं वर्तते। यदि वचनस्यास्य प्रचारः समाजे कर्तव्यः तदा तु निश्चप्रचं देशादनाचारः रसातलं यास्यतीति प्रतीतिः यतोहि आचारः परमो धर्मः प्रथित एवं लोके किल। स एव धर्ममूलम्।<sup>२४</sup> उद्योगिनस्तु कर्मबलेनैव प्राप्नुवन्ति विजयम्। ते न कदापि निर्भरन्ति भाग्ये। उद्योगिनां संसार एव भिन्नः खलु। कर्म कुर्वन्नेवाधिगच्छति फलमिति। पुराकृतानि पुण्यानि रक्षन्ति मानवान्। रणे वने जलाग्निमध्येऽपि पतिते रक्षन्ति तत्पुण्याणि किला अतएव सदैव पुण्यार्जनं कर्तव्यम्। यथा वदति भर्तृहरिस्तत्र नीतिशतके—

**वने रणे शत्रुजलाग्नेमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।**

**सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि॥<sup>२५</sup>**

वस्तुतः कर्मणः फलं रक्षत्यपि। एतदर्थं सद्कर्मणा भवितव्यं सदा। महाभारतीयं वचनमेतदनुसृत्यैव भर्तृहरिणोक्तं स्यादिति प्रतीयते। पूर्वार्जितकर्मणः फलं नैव व्यर्थातामेति। कर्मायत्तं फलं मनुष्याणां भवति। बुद्धिरपि तदेवानुसरति। बुद्धिस्तु कर्मानुकूलं कुरुते कार्य-मिति। अतएवाऽलस्यं प्रविहाय कुर्यात् कर्माणि। अनेन मार्गेण नैवाप्नोति दुःखम्। यतोहि उद्यमी नावसीदति कदापि। अतएव लोके कथ्यते यत् नास्ति किलोद्यमसमो बन्धुरिति। योगस्थितः भूत्वा कर्माणि कुर्वन् मनुष्यः कर्मफलेच्छाबन्धने नैवाऽपतति। अतएव योगस्थः कुरु कर्माणीति वदत्यत्र—

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।**

**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥<sup>२६</sup>**

वस्तुतः कर्म विना मनुष्यत्वं नैव प्राप्यते। एतदर्थं ऋग्वेदे मनुर्भवेति<sup>२७</sup> घोषः कृतः विद्यते। मनुष्यो भूत्वैव दिव्यतामन्येषां कृते प्रापयितुं सम्भवति। अद्यत्वे युवानो किमपि नैव

कुर्वाणाः भ्रमान्ते लोके। तेषां कृते कर्मसिद्धान्तः परमोपादेयो विद्यते। अनेनैव खलु सन्मार्गे नेतुं भविष्यन्ति शक्या इति। अतएव कर्मशीलेन भवितव्यमिति। महाभारते निष्काम कर्म कर्तुं सम्प्रेरयति श्रीकृष्णस्तत्र। श्रीमद्भगवद्गीतायामपि स्फुटं प्रोक्तं यत् ये भक्ताः सर्वाणि कर्माणि मपि समर्प्य कुर्वन्ति, तेषां मुक्तिर्भवत्येव। तेषां मृत्युसागरात् समुद्धारोऽपि भवतीति भावः। यथोक्तं तत्र—

ये ते सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥<sup>२६</sup>

अथ चाप्यत्र—तेषामहं समुद्भूता मृत्युसंसारसागरात्।<sup>२७</sup>

भवामि न चिरात्यार्थं मय्यावेशितचेतसाम्। उपर्युक्तं गीतोपदेशं वीक्ष्यानुभूयते यत् निष्कामकर्तुंस्तु समुद्धारो हि स्यादेव। नियतं कर्म कुर्वाणः नैवाप्नोति किल किल्बिषम्। भीष्मपर्वणि प्रोक्तं यत् स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।<sup>२८</sup> भीष्मपर्वणः वचनं श्रुत्वा प्रतीयते यत् स्वभावजं कर्माणि कुर्वाणाः पापरहिताः भवन्ति किलजनाः। कामाः मनुष्यान् कर्मबन्धने क्षिपन्ति। उद्योगपर्वणि प्रोक्तं यत् कामः मनुष्यं प्रसजन्त एते। एतदर्थं कथ्यते यत् सर्वधर्मान् परित्यज्य<sup>२९</sup> मामेकं शरणं ब्रजेति। वस्तुतः कृष्णशरणमेव मुक्तिरिति। चतुर्णां वर्णां कर्तव्यानि तत्र विहितानि सन्ति। सर्वे वर्णास्तत्र स्वकर्मनिरताः भूत्वा यदि कुर्वन्ति कर्माणि तत्तु निश्चयप्रचं भवेत् परमं सुखमिति। विविधैस्तत्रोपायैः भगवता श्रीकृष्णेनोपदिष्टं किल ये कुर्वन्तिविहित कर्माणि तेषां समुद्धारस्तु निश्चयप्रचं भवेदिति। ये कर्मफलत्यागं कुर्वन्ति, ते एव ध्रुवं त्यागिनः। अतएव सर्वकर्मफलत्याग एव त्याग इति।<sup>३०</sup>

महाभारते तु स्पष्टीकृतं यत् निष्कामभावनया कृतं कर्म नैव याति बन्धनकारणतामिति। सकामभावनयाकृतं कर्म भवति बन्धनकारणम्। निष्कामभावनया बन्धनाद्भवति मुक्तिरिति। यद्यपि निष्काम कर्म करण सम्भवमिवानुभूयते, परन्तु यदि कुर्यात्तर्हि कर्तुर्मनसि भवति शान्तिरिति। निष्कामकर्म सन्तोषदं भवतीति ध्रुवम्। गार्हस्थजीवने एतादृशी साधुप्रवृत्तिर्दुर्लभेति। कर्म कृत्वा फलं यदि भवति विस्मृतं तथा निश्चयप्रचं फलदायकं स्यादिति। जगदिदं फलमनुसरति सर्वदा। फलं विना तु पदमेकमपि नैवे गच्छगन्तुमि/बालोऽपि फलं विहाय नैव सचरति कदापि खलु। फले किलाऽऽसक्तं जगत्सर्वम्। निष्कामभावनया कृतकर्मणः फलं शान्तिदायकं भवति। साऽपि शाश्वती शान्तिरिति। नैव प्रददाति शोकमिति भावः। सकामकर्मणः फलं दुःखदमेव सर्वदा। यथा जलं कमलपत्रे नैव सक्तं भवति, तद्वच्चाप्यत्र कृतकर्मणः फलं न लिम्पति कर्तारमिति। एतदर्थं मेवानासक्तभा नावेन कुर्यात्कार्यं पापमुक्तं करोति तत् निष्कामकर्म नरमिति।



यथोक्तभाश्रीमद्भगवद्गीतायां तत्र—

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**

**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥<sup>३१</sup>**

कर्मफलत्यागेन पापपुण्यरहितत्वात् किलास्मिन्नेव जन्मनि भवति मुक्तिरिति। ज्ञानपूर्वकं कृतं कर्म पापपुण्यात्मकं द्विविधं फलं परिहृत्य शान्तिं प्रयच्छति। अतएव निष्कामकर्मसदा करणीयम्। यथोक्तं तत्र—

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।**

**तस्मात् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥<sup>३२</sup>**

भगवता श्रीकृष्णेन कृतो घोषस्तत्र यत् कर्मफलत्यागी प्राप्नोति सदा नैष्ठिकीं शान्तिमिति भावः। यः सर्वकर्माणि मनसा परिहाय संन्यासभावनया तिष्ठति, तस्य सर्वकल्मषदोषाः समाप्नुवन्ति। सः सदा सुखमनुभवन् शान्तभावेन तिष्ठति। इदमेव गीतामृतं वचनं खलु। यः कोऽपि कुरुते तत्र स एवोपैति सौख्यमिति। यः साधकस्तत्र नवद्वारयुते शरीरे सर्वाणि कर्माणि मनसा त्यक्त्वा तिष्ठति, स एवाऽऽप्नोति परमानन्दकरं ब्रह्मेति। यथोक्तं तत्र भगवता श्रीकृष्णेन—

**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।**

**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥<sup>३३</sup>**

सर्वत्रापि भगवता श्रीकृष्णेन तथैवोक्तं किल फलत्यागाय। फलेच्छा भवति दुःखदा। फलेच्छाहीनो भूत्वा प्राप्यते परमागतिरिति। अयमेव महाभारतस्य सिद्धान्त इति। अतएव क्रोधं परिहाय कामं च नरो याति सौख्यसागरमिति। उक्तञ्चापि महाभारते—क्रोधं हित्वा।<sup>३४</sup> न शोचति। क्रोधस्तु तत्रासूयासुतः प्रोक्तः। ‘क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः’।<sup>३५</sup> शान्तिनपर्वणि सत्यमेवोक्तं खलु। क्रोधयुतो भूत्वा कृतं कर्म भयावहम्। मानवाः क्रोधान्धो भूत्वा कुर्वन्ति कुकृत्यानि खलु। एतदर्थं न कदापि क्रोधेन भवितव्यम्। सर्वदा परमेशं प्रति कार्त्तज्ञेन भवितव्यम्। यतोहि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिरिति<sup>३६</sup> लोके महाभारते च प्रथितेति। कृतघ्नयुतं कर्म नैव परिहरति मनुष्यम्। महाभारतस्य समुद्घोषोऽयं वर्तते यत् कर्मफलत्याग एव सुखावह इति भावः। निष्कामकर्मणा प्राप्नोति नरः परमां गतिम्। कुर्वन् कर्माणि मनुष्यः भवति क्रियावान्। कर्मैव मानवं लोके उच्चपदे स्थापयति। निष्कामकर्मणा ब्रह्मलोकमधिगच्छतीति। एतदर्थं फलप्राप्तिकामनारहितत्वादेव परमगतिप्राप्तिरिति। अतएव सदा सर्वदा सर्वैः वर्णैस्तत्र स्व-स्व विहितकर्माणि करणीयानीत्यनेन सुखदं भवति कर्मणो फलमिति। यदि कोऽपि क्षत्रियः युद्धेऽक्षतो भूत्वा निवर्तते स निन्दनीयो भवति।

अतएव कथितं महाभारते—

अविक्षतेन देहेन समराद्यो निवर्तते।

क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः।<sup>३६</sup>

उपर्युक्तानि वचांसि वीक्ष्यानुभूयते यत् निष्कामकर्मणा सदा भवितव्यम्। अनेन कर्म फलं न बध्नातीति शम्।

सन्दर्भग्रन्थाः —

- |  |                                   |
|--|-----------------------------------|
| 1. मनुस्मृति, 2.20   | 2. यजुर्वेदः, 40.2                |
| 3. नीतिशतकम्, 96   | 4. महाभारतं, भीष्मपर्व, 26.47     |
| 5. तदेव, वनपर्व, 2.74  | 6. तदेव, वनपर्व, 32.3             |
| 7. महाभारतम्, वनपर्व, 261.35   | 8. तदेव, शान्तिपर्व, 181.16       |
| 9. यजुर्वेदः, 40.11  | 10. महाभारतं, शान्तिपर्व, 241.7   |
| 11. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.20   | 12. महाभारतम्, शान्तिपर्व, 153.41 |
| 13. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.6  | 14. तदेव, 4.17                    |
| 15. तदेव, 4.15   | 16. महाभारतं, भीष्मपर्व, 42.48    |
| 17. तदेव, स्त्रीपर्व, 2.32   | 18. तदेव, भीष्मपर्व, 27.8         |
| 19. तदेव, स्त्रीपर्व, 18.12  | 20. महाभारतम्, शान्तिपर्व, 298.30 |
| 21. तदेव, स्त्रीपर्व, 3.17   | 22. तदेव, उद्योगपर्व, 34.19       |
| 23. तदेव, उद्योगपर्व, 123.22   |                                   |
| 24. मनुस्मृतिः 2.6, वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।<br>आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥                   |                                   |
| 25. नीतिशतकम्, 99  | 26. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48        |
| 27. ऋग्वेदः, 10.53.6   | 28. श्रीमद्भगवद्गीता, 12.6        |
| 29. तदेव, 12.7   | 30. महाभारतम्, भीष्मपर्व, 42.47   |
| 31. तदेव, उद्योगपर्व, 27.4   |                                   |
| 32. श्रीमद्भगवद्गीता, 18.66 सर्वान् धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।<br>अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ |                                   |
| 33. महाभारतम्, भीष्मपर्व, 42.2 सर्वकर्म फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षाणाः।  |                                   |
| 34. श्रीमद्भगवद्गीता, 5.10   | 35. तदेव, 2.50                    |
| 36. श्रीमद्भगवद्गीता, 5.13   | 37. महाभारतम्, वनपर्व, 313.78     |
| 38. तदेव, शान्तिपर्व, 271.21   |                                   |
| 39. तदेव, शान्तिपर्व, 271.11, निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतध्ने नास्ति निष्कृतिः।  |                                   |
| 40. तदेव, शान्तिपर्व, 60.16  |                                   |



# वसुबन्धुकृत 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में निरूपित बाह्यार्थवाद-खण्डन

डॉ. हेमलता जैन

भारतीय प्रत्ययवादी दर्शनों में बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत् है तथा उससे भिन्न बाह्यार्थ की कोई सत्ता नहीं है। विज्ञान से पृथक् बाह्य अर्थ को स्वीकार करना बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार उत्पन्न नहीं है। वह सब कुछ विज्ञान ही है, जो हमारे अनुभव में आता है। रूप, रस आदि अनुभव भी विज्ञान ही है जिसे वे परिकल्पित विज्ञान कहते हैं। विज्ञान से भिन्न संसार में किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। वासनाएँ भी विज्ञान का स्वरूप हैं और इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान भी विज्ञान ही है। बुद्ध के वचनों की व्याख्या विज्ञानवादी दार्शनिकों ने एकमात्र विज्ञान को सत् मानकर की है।

**विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थवमासनात्।<sup>1</sup>**

अर्थात् अर्थ के असत् होने पर भी उसका बाह्य अर्थ के रूप में अवभासन विज्ञान मात्र से होता है।

चित्त, मनस्, विज्ञान और विज्ञप्ति ये सब परस्पर पर्यायवाची है। यहाँ 'मात्र' शब्द विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थ का प्रतिषेध करता है। जीवों की सन्तान में अनादिकाल से विभिन्न प्रकार की वासनाएँ चलती रहती हैं। जिस समय वे परिपक्व होती हैं तब चित्त में ये वासनाएँ बाह्य अर्थ की आकृतियों के रूप में उद्भूत होती है।

विज्ञानवाद के भी दो स्वरूप उभर कर आते हैं— आगमानुयायी विज्ञानवाद और युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद। आगमानुयायी विज्ञानवाद के आचार्यों में प्रमुख है— दिङ्नाग और धर्मकीर्ति। आगमानुयायी विज्ञानवादी आचार्य महायान परम्परा में निबद्ध ग्रन्थों को आगम मानते हैं। ये अपने कथन में शेरवादी परम्परा के पाली त्रिपिटकों को आधार न बनाकर महायान के संस्कृत त्रिपिटकों को आधार बनाते हैं। यह भी कहा जाता है कि आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र, लङ्कावतार आदि सूत्र ग्रन्थों में वर्णित आलयविज्ञान के प्रतिपादक वाक्यों को शब्दशः स्वीकार करने वाले आचार्य आगमानुयायी विज्ञानवादी कहलाए। अपने मन्तव्यों को युक्तियों से पुष्ट करने पर भी आगम अर्थात् बुद्धवचन का सर्वथा अनुसरण करने के कारण ये आचार्य आगमानुयायी विज्ञानवादी कहे जाते हैं। दूसरी ओर

आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को अस्वीकृत कर विज्ञप्तिमात्रता को ही तर्क एवं युक्तियों से प्रतिष्ठित करने के कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्य युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी कहे जाते हैं।

### आगमानुयायी विज्ञानवाद—

महायान के तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन<sup>१</sup> स्वरूप बौद्ध दर्शन की धारा विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य आर्य असङ्ग है। इनके गुरु मैत्रेयनाथ इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं। विज्ञानवाद का प्रधान ग्रन्थ **महायानसूत्रालङ्कार** है, जिसका मूलभाग आचार्य मैत्रेयनाथ का और टीकाभाग आर्य असङ्ग का माना जाता है। आर्य असङ्ग ने अपने सिद्धान्तों को **महायानसूत्रालङ्कार** और **योगचारभूमिशास्त्र** ग्रन्थ में निरूपित किया है। असङ्ग का दर्शन समन्वयात्मक है। इसमें सौत्रान्तिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गलनैरात्म्य और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। असङ्ग ने इस समन्वय को विज्ञानवाद की परिधि में आलयविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान एवं विज्ञप्तिमात्रता के स्वरूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य वसुबन्धु ने उन्हीं के मतों का समर्थन करते हुए अनेक ग्रन्थों की रचना की। महायान परम्परा में विज्ञान और शून्यवाद का समावेश होता है। महायान परम्परा के प्रमुख सूत्रग्रन्थ हैं— १. सद्धर्मपुण्डरीक, २. ललितविस्तर, ३. लङ्कावतार, ४. सुवर्णप्रभास, ५. गण्डव्यूह, ६. तथागतगुह्यक, ७. समाधिराज, ८. दशभूमीश्वर, ९. प्रज्ञापरमितासूत्र।

प्रस्तुत लेख आगमानुयायी विज्ञानवाद के अध्ययन से सम्बद्ध है। आगमानुयायी विज्ञानवाद के आचार्यों में असङ्ग और वसुबन्धु की कृतियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। आचार्य असङ्ग के सम्बद्ध में उल्लेख है कि उन्होंने २० कृतियों की रचना की किन्तु नाम ११ कृतियों के ही प्राप्त होते हैं।<sup>२</sup>

आचार्य वसुबन्धु विज्ञानवाद के महान् प्रतिष्ठापक आचार्य थे। उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

- |                              |                           |
|------------------------------|---------------------------|
| १. महायानसूत्रालङ्कारभाष्य   | २. धर्मधर्मताविभङ्गवृत्ति |
| ३. मध्यान्तविभङ्गटीका        | ४. महायानसंग्रह भाष्य     |
| ५. विंशतिका कारिका           | ६. विंशतिकावृत्ति         |
| ७. त्रिंशिका कारिका          | ८. कर्मसिद्धिप्रकरण       |
| ९. प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका | १०. पञ्चस्कन्ध प्रकरण     |
| ११. त्रिरत्नस्तोत्रम्        | १२. सप्तगुणपरिवर्णना      |
| १३. सम्भारपरिकथा             | १४. शीलपरिकथा             |

१५. बुद्धानुस्मृतिटीका

१६. अभिधर्मकोशकारिका

१७. अभिधर्मकोशभाष्य

१८. त्रिस्वभावनिर्देश आदि।

विज्ञानवाद की स्थापना और उसके सिद्धान्तों के प्रणयन में आचार्य वसुबन्धु की दो कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं— १. विंशिका, २. त्रिंशिका। विंशिका में २० कारिकाएँ और त्रिंशिका में ३० कारिकाएँ होने से इन्हें क्रमशः विंशिका और त्रिंशिका नाम दिए गए हैं। इन दोनों कृतियों को मिलाकर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नाम भी प्रचलित है। विंशिका में बाह्यार्थ का तार्किक निरसन किया गया है तथा त्रिंशिका में बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक विवेचन में युक्तियों का आश्रय भी लिया गया है।

यह शोध लेख बाह्यार्थ के निरसन पूर्वक विज्ञानवाद की स्थापना करता है।

**बाह्यार्थखण्डन—**

विज्ञानवादी परमाणुवाद और भ्रम के आधार पर दो प्रकार से बाह्यार्थ का खण्डन करते हैं।

**१. परमाणु निषेध द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन—** आचार्य वसुबन्धु ने परमाणु की द्रव्यतः सत्ता को असत् सिद्ध कर परमाणुवाद के आधार पर बाह्यार्थवादियों के मतों को तीन कोटि में विभाजित कर उनका निरसन किया है। **परमाणु द्रव्यतः असत् है—** परमाणु द्रव्यतः असत् है इस पक्ष में वसुबन्धु तर्क देते हैं कि स्थूल पिण्ड बनने की प्रक्रिया में मध्यस्थ परमाणु छह अन्य परमाणुओं के साथ संयोग छह दिशाओं से होता है। क्या यह संयोग मध्यस्थित परमाणु की भिन्न-भिन्न दिशाओं से होता है अथवा उस परमाणु की एक ही दिशा में छहों परमाणुओं का संयोग हो जाता है ?

यदि प्रथम पक्ष स्वीकारेंगी तब मध्यस्थित परमाणु की षडंशता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यथ मध्यस्थित परमाणु की पूर्व दिशा, पश्चिम, उत्तरादि अन्य दिशारथ परमाणुओं द्वारा गृहीत नहीं होती है। फलस्वरूप मध्यस्थ परमाणु के छह अवयव हो जायेंगे।<sup>६</sup> और उसकी द्रव्यसत्ता अविभाज्य नहीं हो सकेगी।

यदि द्वितीय पक्ष को मानें तो मध्यस्थ परमाणु की पूर्व दिशा से गृहीत परमाणु पश्चिम आदि अन्य दिशाओं द्वारा गृहीत परमाणुओं से भिन्न नहीं होगा तब ऐसी स्थिति में मध्यस्थ परमाणु के साथ हजारों परमाणुओं का योग हो जाने पर भी उसका क्षेत्र विस्तृत नहीं हो सकेगा।<sup>७</sup> फलस्वरूप पर्वतसदृश महान् पिण्ड भी परमाणुमात्र हो जायेगा।

अतः दोनों पक्षों से परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि प्रथम पक्ष में परमाणु के सावयव होने से वह एक द्रव्य नहीं हो सकता।<sup>८</sup> और द्वितीय पक्ष में उसके निरवयव

होने से सञ्च नहीं बन सकता।<sup>5</sup>

इस प्रकार जब परमाणु ही सिद्ध नहीं हो सकता है तब रूप, रस आदि विषयों की सत्ता, जिसे विज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थवादी मानते हैं। यह भी असिद्ध हो जायेगी। फलतः विज्ञप्तिमात्रता ही सिद्ध होती है।

## २. बाह्यार्थवादी के मतों का तीन कोटियों में विभाजन और निरसन—

**प्रथम कोटि—**रूप, रस आदि एक स्थूल पिण्ड अर्थात् अवयवी विज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

**द्वितीय कोटि—**अनेक परमाणुओं का समूह विज्ञान का विषय नहीं बनता।

**तृतीय कोटि—**इसी तरह अनेक परमाणुओं का सङ्घात भी विज्ञान का अविषय है।

**१. प्रथम कोटि—**बाह्यार्थवादी अवयवी को स्थूल होने से विज्ञान का विषय मानते हैं। अवयवरूपी परमाणु सूक्ष्म होते हैं अतः वे इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं बनते। इस प्रकार अवयवी अपने अवयवों से भिन्न एवं एक है।

वसुबन्धु कहते हैं कि अवयवों से भिन्न एक अवयवी कभी भी विज्ञप्ति का विषय नहीं बन सकता। यथा घट का प्रत्यक्ष होने पर घट (अवयवी) और मृत्पिण्ड (अवयव) भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं देते हैं। अवयव-अवयवी यदि भिन्न-भिन्न होते हैं तब ये एक-दूसरे की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र रूप से इन्द्रिय ज्ञान का विषय बनते परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः अवयवों से भिन्न एक अवयवी (बाह्यार्थ) विज्ञान का विषय नहीं है।<sup>10</sup>

**२. द्वितीय कोटि—**बाह्यार्थवादियों के अनुसार विज्ञान सञ्चिताकार विषय का आलम्बन करता है— ‘सञ्चितालम्बनः पञ्चविज्ञानगणः।’<sup>11</sup> इससे यह स्पष्ट है कि विज्ञान प्रत्येक परमाणु का आलम्बन नहीं करता।<sup>12</sup> अतः वसुबन्धु कहते हैं कि यदि विषय के मूल परमाणु है तो उनका आकार सञ्चिताकार वाला नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थवादी के अनुसार परमाणु सूक्ष्म एवं अविभाज्य है। फलतः यह व्यवहित परमाणुओं का सञ्चिताकार भी भ्रान्तिमात्र है, सिद्ध होता है।

**३. तृतीय कोटि—**बाह्यार्थवादी परस्पर अव्यवहित और संयुक्त रूप से स्थित परमाणुओं को विज्ञान का विषय मानते हैं।<sup>13</sup> वसुबन्धु कहते हैं कि ऐसा परमाणुसङ्घात भी विज्ञान का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि सर्वप्रथम परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध होनी चाहिए तत्पश्चात् यह विचार हो सकता है कि परमाणुओं की सङ्घात विज्ञप्ति का विषय होता है या व्यवहित अनेक परमाणु विज्ञप्ति के विषय होते हैं। अतः बाह्यार्थसिद्धि का यह पक्ष भी समीचीन नहीं है।

**३. प्रत्यक्ष से बाह्यार्थ सम्भव नहीं—** वस्तुवादी किसी भी वस्तु के अस्तित्व नास्तित्व का निश्चय/निर्धारण प्रमाण के आधार पर करते हैं और बाह्यार्थ से सम्बन्धित होने पर ही ज्ञान के प्रमाअप्रमा का निश्चय हो पाता है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ है। वस्तुवादी और विज्ञानवादी दोनों इसको स्वीकार करते हैं। वस्तुवादी के अनुसार रूप आदि के दर्शन के पश्चात् हम में ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है। यदि बाह्यार्थ सत् नहीं है तो इस प्रकार की बुद्धि का उत्पाद भी सम्भव नहीं है।

आचार्य वसुबन्धु इसका निश्चय करते हुए कहते हैं कि बाह्यार्थ के बिना भी स्वप्नवत् प्रत्यक्षबुद्धि का उत्पाद होता है। जिस समय यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है उस समय वह अर्थ सामने नहीं रहता, जिसको चक्षुर्विज्ञान ग्रहण करता है। क्योंकि प्रथम क्षण में चक्षुर्विज्ञान से 'रूप' का निर्विकल्प होता है। द्वितीय क्षण में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है और तृतीय क्षण में चक्षुर्विज्ञान द्वारा दृष्ट वस्तु का चिन्तन किया जाता है, जो कि मनोविज्ञान का कार्य है। मनोविज्ञान के इस काल में चक्षुर्विज्ञान निरुद्ध हो जाता है और मनोविज्ञान अर्थ का कथमपि परिच्छेद नहीं करता है। फलतः मनोविज्ञान द्वारा रूप का ग्रहण नहीं हो सकता और न चक्षुर्विज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि दोनों समय बाह्य रूप निरुद्ध रहता है। प्रथम क्षण में हुए 'रूप' का निर्विकल्पक दर्शन जो चक्षुर्विज्ञान का हेतु है उसमें बाह्य अर्थ के निर्धारण की सामर्थ्य नहीं रहती। अतः प्रत्यक्ष विषयक बुद्धि के उत्पादसे बाह्यार्थ की सत्ता नहीं होती है।

**४. क्षणिकवाद में भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष असम्भव—** वसुबन्धु कहते हैं कि यदि वस्तुवादी रूप आदि बाह्य अर्थ की स्थिति द्वितीय क्षण अर्थात् चक्षुर्विज्ञान में स्वीकार करें तब भी अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु क्षणिक है अतः कालान्तर में वह रूप आदि बाह्यार्थ स्थित नहीं रह सकते इसलिए वे प्रत्यक्ष के विषय भी नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के सम्मुख उसी काल में उपस्थित अर्थ ही विषय बनते हैं। फलतः क्षणिकवाद में बाह्यार्थ का प्रत्यक्षतः ग्रहण अत्यन्त असम्भव है।

**५. स्मृति ज्ञान में बाह्यार्थ अनावश्यक—** सौत्रान्तिक, न्यायवैशेषिक, जैन, कुमारिल भट्ट मीमांसक आदि वस्तुवादी यह मानते हैं कि प्रत्यक्षतः जिस विषय का अनुभव नहीं किया जाता है उसका मनोविज्ञान द्वारा स्मरण भी नहीं हो सकता। अतः स्मृति के लिए बाह्यार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा। विज्ञानवादी कहते हैं कि विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थों का स्मरण नहीं होता है। रूप आदि बाह्य अर्थों के न होने पर भी बाह्य अर्थों के अवभासन वाली चक्षुर्विज्ञान, अर्थाकारविज्ञान आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं और उन रूपविज्ञप्ति आदि से मनोविज्ञान

उत्पन्न होता है, जो स्मृति का हेतु बनता है। उदाहरणार्थ जब चक्षुर्विज्ञान घट का दर्शन करता है उस समय घट को प्रकाशित करने वाला प्रत्यक्ष का एक अंश 'चक्षुर्विज्ञान' होता है एवं दूसरा अंश चक्षुर्विज्ञान को प्रकाशित करने वाला 'स्वयंवदेन' कहलाता है। प्रत्यक्ष के एक भाग स्वसंवेदन से विज्ञापितियों का अनुभव होता है और तदनन्तर विज्ञापितियों का स्मरण करने वाली स्मृति उत्पन्न होती है। फलतः स्मरण के लिए पृथक् बाह्य अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है।

**६. स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में बाह्यार्थ अयथार्थ—** वस्तुवादी दार्शनिक स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं की विज्ञापितियों को भिन्न-भिन्न स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार स्वप्न अवस्था के दृष्ट अर्थ असत् है और जाग्रत अवस्था में बाह्यार्थ सत् है। विज्ञानवादी वस्तुवादियों के इस कथन को असम्यक् मानते हुए कहते हैं कि जब तक स्वप्न अवस्था समाप्त नहीं होती है तब तक स्वप्न में दृष्ट अर्थों के मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं होता है और जब पुरुष जाग्रत होता है तब उसे स्वप्न दृष्ट अर्थों के मिथ्याज्ञान का अवबोध होता है। ठीक उसी प्रकार जब तक हम वासनाओं से मोहित होते रहते हैं, तब तक हम भी स्वप्न की भाँति अयथार्थ को यथार्थ मानते हैं और बाह्यार्थ को वस्तुतः 'सत्' स्वीकार करते हैं। वसुबन्धु नरक के एक दृष्टान्त<sup>१४</sup> से इसी को विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि कर्मों के परिपाक से चित्त किस प्रकार बाह्य अर्थों के न होने पर भी नरकपाल, स्थाली आदि का प्रतिमास करता है और उनसे प्राप्त दुःख-वेदना का भी अनुभव करता है। जैसे नरक क्षेत्र में बाह्यार्थ के बिना भी नारकीय सत्त्वों को वहाँ नरकपाल, कड़ाही, स्थाली आदि पदार्थ कुछ समय के लिए दिखलाई देते हैं, सर्वदा नहीं। नारकीयों को कुत्ते, पक्षी, लौहमय पर्वत के आगमन और गमन का प्रतिमास होता है एवं वह सभी तुल्य कर्म विपाकवाले सत्त्वों की सन्तानों में होता है। बाह्य नरकपाल के न होने पर भी प्रतिमास द्वारा नारकीयों को भयङ्कर वेदना का अनुभव होता है। इन सबका कारण पूर्वजन्मों में किए कर्म हैं, जो वासना के रूप में सत्त्वों की सन्तानों में अन्तर्निहित होते हैं। जब उनका परिपाक होता है तब उन नारकीय सत्त्वों का अपना ज्ञान स्वयं नरकपाल, श्वान, पक्षी लौहपर्वत आदि के रूप में प्रतिभासित होने लगता है तथा यह अभिनिवेश होने लगता है कि 'ये भयङ्कर नरकपाल हमें यातना दे रहे हैं' इत्यादि। इस दृष्टान्त से वसुबन्धु ने वस्तुवादियों के चार आक्षेपों—देशनियम का अभाव, कालनियम का अभाव, सन्तान के अनियम का अभाव तथा अर्थक्रिया के अभाव का भी निरसन किया है।

इसी प्रकार हम भी वासनाओं के मोहपाश से बंध कर विज्ञप्ति के विषय बाह्य अर्थ को सत् समझते हैं और संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं। वासनाओं के प्रहाण से सम्यक् ज्ञान प्रकट होता है, फलतः मोक्ष में प्रवृत्ति होती है और बाह्यार्थ को असत् जानता है। अतः विज्ञप्तिमात्र ही सत् है।



**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. विशंतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम् कारिका 1 पृष्ठ 17
2. वैभाषिक और सौत्रान्तिक एक धर्मचक्रप्रवर्तन स्वीकार करते हैं जिनकी देशना भगवान बुद्ध ने ऋषिपतन्, मृगदान में की थी। महायानी तीन धर्मचक्रप्रवर्तन क्रमशः ऋषिपतनमृगदाव, गृध्रकुट पर्वत एवं वैशाली स्थलों पर हुआ, ऐसा स्वीकार करते हैं। इन तीनों की विषयवस्तु चार आर्यसत्य, समस्त धर्मों की निःस्वभावता और धर्मों की सस्वभावना का विभाजन करना थी।  
—बौद्धदर्शन प्रस्थान, भूमिका पृष्ठ (xxxvii)
3. (1) वैभाषिक मतावलम्बी महायान सूत्रों के बुद्धवचन नहीं मानते। इनके अनुसार केवल हीनयानी त्रिपिटक ही प्रमाणिक है।  
(2) प्राचीन सौत्रान्तिक आचार्य महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते परन्तु धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती सौत्रान्तिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन स्वीकार करने लगे फिर भी वे प्रकारान्तर से उसका अर्थग्रहण करते थे।  
(3) महायान के अनुयायी दार्शनिक द्विविध हैं— योगाचार एवं माध्यात्मिक। दोनों ही हीनयान और महायान सूत्रों को प्रामाणिक बुद्धवचन मानते हैं। फिर भी स्वदर्शनों की पृष्ठभूमि के अनुसार उसका नीतार्थ एवं नेयार्थ में विभाजन करते हैं।
4. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि— प्रकरणद्वयम्, भूमिका, पृष्ठ सं. 99–100
5. वही भूमिका, पृष्ठ सं. 101–102
6. द्रष्टव्य— (1) 'गणनां समानदेशत्वतात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः'— विशंतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, प्रकरणद्वयम् कारिका 12
7. द्रष्टव्यः— 'सयुक्त' दूरदेशस्थं नैरन्तर्यव्यवस्थितम्। एकाण्वभिमुखं रूपं यदणोर्मध्यवर्त्तिनः। तत्त्व (बहिरर्थपरीक्षा) कारिका—1989, पृष्ठ सं. 607
8. 'दिग्भागेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते' विशंतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम् कारिका, पृष्ठ सं. 56
9. द्रष्टव्य— (1) अण्वतन्त्राभिमुख्येन तदेव यदि कल्प्यते। प्रचयो भूधरादीनामेवं सति न युज्यते। तत्त्व (बहिरर्थपरीक्षा), कारिका—1990, पृष्ठ सं. 678  
(2) षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षण्डशता। गणनां समानदेशत्वतात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥ विशंतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, प्रकरणद्वयम् कारिका 12, पृष्ठ सं. 52, 53
10. विशंतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, कारिका 11 की वृत्तिसे, पु. सं. 51
11. वही, कारिका 11 की वृत्ति व्याख्या में उद्धृत, पृष्ठ सं.
12. द्रष्टव्यः— 'न तावत्परमाणूमानाकारः प्रतिवेद्यते। निरशानेकमूर्त्तानां प्रत्ययाप्रतिवेदनात्॥ व्यपेतभागभेदा हि भासेरन् परमाणवः। नान्यथाऽध्यक्षता तेषामात्माकारासमर्पणात्॥  
— तत्त्व संग्रह, कारिका— 1967–68, पृष्ठ सं. 671–72
13. द्रष्टव्यः भासमानऽकिमात्माऽयं बाह्योऽर्थः प्रतिभासते।  
परमाणुस्वभावः किं किं वाऽवयवलिक्षणः॥ — तत्त्व संग्रह कारिका— 1996
14. "यथा हि नरके षु नारकाणां नरकपालादिदर्शनं देशकालनियमेन सिद्धम्,



## “आशौच” पदार्थ का धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विहित लक्षण

मनीता यादव

जन्ममरणादिनिमित्तक अद्य की अशुद्धि ही आशौच कहलाती है। इस अद्य का सम्बन्ध प्रधानतया सत्त्व (अन्तरात्मा) से है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वात्मा की शुद्धि ही प्रधानतया धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। उसकी शुद्धि बिना शरीर व प्रणादि आयतनों में नहीं होती अतः उसकी शुद्धि का भी यहाँ बोधन करना पड़ता है। इस अशौच का सीधा सम्बन्ध जन्म अथवा मरण के समय रक्त सम्बन्धियों को प्राप्त होने वाले अशुद्धि से है। जिसके अन्तर्गत नित्य नैमित्तिक कर्म यथा सन्ध्यादि पंचमहायज्ञों के अधिकार से वंचित हो जाना है।

आशौच को विभिन्न रूप से कई धर्मशास्त्रकारों ने अपने-अपने निबन्ध ग्रन्थों में समझाया है। इनमें “शुद्धिकौमदी” के रचयिता गोविन्दानन्द कनकाचार्य ने लिखा है—

तत्र क्वचित्-शान्त्यरिक्तप्रयत्नानपनेयत्वे सति सजातीय संस्पर्शनहत्वा-  
पादकत्वमित्यशौचलक्षणा है।’

वीर मित्रोदय के शुद्धि प्रकाश में इसको परिभाषित करते हुये मिश्रमिश्र लिखते हैं—

आशौचं स सन्ध्यापंचमहायज्ञादिकर्मानाधिकार सम्पादकोऽतिशयविशेषः।  
स च चेतने जननमरणस्पृश्यस्पर्शाद्याहिताऽदृष्टविशेष एवं, ताम्रकास्याद्यचेतने तु  
प्रोक्षणादिजन्यो ब्रीहिष्विव चाण्डालाद्यस्पर्शदिजन्योऽमलादिसंसर्गनाश-  
चाशेयशक्ति विशेषो न त्वदृष्टं, तस्य चेतनगुणत्वात्। उभयत्रापि वा चेतनाचेतन  
योधर्मर्माऽधर्मा विलक्षणाधेयशक्तिविशेष तातिशयः। तस्य सुखदुःखान्य-  
तरतजनकत्वे प्रमाणाभावेन धर्माधर्मरूपत्वाभावत्। (१) अस्तु वा  
तत्त्वश्चाण्डालाद्यस्पृश्य संसर्गोत्पत्तिकालीन यावदम्लदिसंसर्गाभाव-  
विशिष्टस्तत्तच्चाण्डालस्पृश्यसंगाद्यसमयध्वंस एव सः। अतश्च युक्तं सर्वेणामीणां  
तत्तत्ताम्रकास्यादिद्रव्याङ्गकसन्ध्यादिसकृदविरोधित्वादाशौचपदावाचयत्वत्वम्।  
अतस्तत्संसर्गाद्यभाव एवं शौचमिति सिद्धम्।<sup>१</sup> इस प्रकार मिश्रमिश्र ने स्पष्ट किया है कि  
आशौच का तात्पर्य है अशुद्धि तो विभिन्न धातुओं यथा काँसे, ताम्रादि में भी होती है, परन्तु  
आशौच अम्लादि के प्रयोग से समाप्त हो जाती है। किन्तु आशौच का तात्पर्य यह नहीं है वरन्

.....

जन्ममरणादिनिमित्तक अद्य की अशुद्धि ही आशौच कहलाती है। इस अद्य का सम्बन्ध प्रधानतया सत्त्व (अन्तरात्मा) से है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वात्मा की शुद्धि ही प्रधानतया धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। उसकी शुद्धि बिना शरीर व प्रणादि आयतनों में नहीं होती अतः उसकी शुद्धि का भी यहाँ बोधन करना पड़ता है। इस अशौच का सीधा सम्बन्ध जन्म अथवा मरण के समय रक्त सम्बन्धियों को प्राप्त होने वाले अशुद्धि से है। जिसके अन्तर्गत नित्य नैमित्तिक कर्म यथा सन्ध्यादि पंचमहायज्ञों के अधिकार से वंचित हो जाना है।

आशौच को विभिन्न रूप से कई धर्मशास्त्रकारों ने अपने-अपने निबन्ध ग्रन्थों में समझाया है। इनमें ‘‘शुद्धिकौमदी’’ के रचयिता गोविन्दानन्द कनकाचार्य ने लिखा है—

तत्र क्वचित्-शान्त्यरिक्तप्रयत्नानपनेयत्वे सति सजातीय संस्पर्शनहर्त्वापादक-  
त्वमित्यशौचलक्षणा है।’

वीर मित्रोदय के शुद्धि प्रकाश में इसको परिभाषित करते हुये मिश्रमिश्र लिखते हैं—

आशौचं स सन्ध्यापंचमहायज्ञादिकर्मानाधिकार सम्पादकोऽतिशयविशेषः। स च चेतने जननमरणस्पृश्यस्पर्शाद्याहिताऽदृष्टविशेष एवं, ताम्रकास्याद्यचेतने तु प्रोक्षणादिजन्यो ब्रीहिष्विव चाण्डालाद्यस्पृश्यादिजन्योऽमलादिसंसर्गनाश्रवाशेयशक्ति विशेषो न त्वदृष्टं, तस्य चेतनगुणत्वात्। उभयत्रापि वा चेतनाचेतन योधर्मोऽधर्मा विलक्षणाधेयशक्तिविशेष तातिशयः। तस्य सुखादुःखान्यतरतजनकत्वे प्रमाणाभावेन धर्माधर्मरूपत्वाभावत्। (१) अस्तु वा तत्त्वश्चाण्डालाद्यस्पृश्य संसर्गोत्पत्तिकालीन यावदम्लदिसं-सर्गाभावविशिष्टस्तत्तच्चाण्डालस्पृश्यसंगाद्यसमयध्वंस एव सः। अतश्च युक्तं सर्वेषामीणां तत्तत्ताम्रकांस्यादिद्रव्याङ्गकसन्ध्यादिसकृ तविरोधित्वादा-शौचपदावाचयत्वत्वम्। अतस्तत्सर्गाद्यभाव एवं शौचमिति सिद्धम्।<sup>१</sup> इस प्रकार मिश्रमिश्र ने स्पष्ट किया है कि आशौच का तात्पर्य है अशुद्धि तो विभिन्न धातुओं यथा काँसे, ताम्रादि में भी होती है, परन्तु आशौच अम्लादि के प्रयोग से समाप्त हो जाती है। किन्तु आशौच का तात्पर्य यह नहीं है वरन् सन्ध्यावन्दनादि नित्य नैमित्तिक कार्यों को न करने से जो अशुचिता आती है उस अशुचिता का कारण जो है कि वह आशौच कहलाता है।

आशौच को परिभाषित करते हुए पण्डित मधुसूदन ओझा जी ने आशौच पंजिका में विषदतया वर्णित किया है—

वेदबोधितचातुर्वर्ण्योचितकर्मफलसिद्धिप्रतिबन्धकोऽमेध्यत्वलक्षणो जननमरणादि जन्यपूर्वविशेषोऽद्यमित्सयाख्यायते। अद्यभिन्नमलसम्बन्धात् कस्याचिदेक-वयक्तिमात्रस्य देहमात्रं मलिनं भवति। अघात्मकमलसम्बन्धात् तत्कुलोत्पन्नानां

सर्वेणा देहश्चात्मा चाशुचिर्भवतीति विशेषः। अस्याघस्याशौचसंज्ञा शास्त्रे प्रसिद्धाः। अशौचमाशौचं सूतकमघमित्यनर्थान्तरम् तदपवादः शुद्धिः। तदुपायनिर्देश इह प्रकरणार्थः<sup>३</sup> अर्थात् किसी प्रकार परिवार में जन्म अथवा मरण के कारण सापिण्ड्यता के होने से अद्य या मलिनता उत्पन्न होती है, वह उस सापिण्ड्यादि परिवार में कुछ कार्यों को न करने की स्थिति को उत्पन्न करती है, उसे ही आशौच पद से अभिहित किया गया है। आशौच नियम वेद में वर्णित चारों वर्णों के लिये निर्दिष्ट है। आशौच का औचित्य है कि अशुचिता एवं इसके कारण नित्यनैमित्तिकादि कार्यों को करने की अनधिकारिता एवं यह अनधिकारिता तक ही सीमित नहीं है वरन् इसके उपस्थित होने पर संसर्ग संस्रवादि की भी वर्जना की गई है। इस कारण इसे अद्य शब्द से भी व्यंजित किया गया है। कात्यायन स्मृति ने इसी विषय पर खण्ड २४ में लिखा है कि—

सूतके कर्मणाः संध्यादीनां विधीयते।

होमः श्रौते तु कर्त्तव्यः शुष्काग्नेनापि वा फलैः।

अकृतं होमयेत्सार्ते तद्भावे कृताकृतम्।

तं होमयेदन्नमन्वारंभविधानतः॥२॥<sup>४</sup>

अर्थात् सूतक हो जाने पर संध्या इत्यादि नित्यकर्मों को न करे, यह नियम है और सूखे अन्न या फल से वेद कहे हुए हवन को करें। स्मृति में कहे हुए कर्म में अकृत की एवं यदि अकृत प्राप्त न हो सके तो कृताकृत करे, अथवा कृतअन्न की आहुति दें परन्तु अन्वारम्भ इस विधि से करें। दक्ष स्मृति ने पंचम और षष्ठ अध्याय में दो प्रकार की अशुचिता एवं उसकी शुद्धि को विवेचित किया है तथा दक्ष ऋषि का कथन है कि शौचाचार से रहित है उसके सारे जप-तप आदि क्रियाएं निष्फल है—

उक्तं शौचमाशौचं च कार्यं त्याज्यं मनीषिभिः॥ विशेषार्थं तयोः

किञ्चिद्वक्ष्यामि हितकाम्या॥ शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः

स्मृतः। शौचाचारविहीनस्य स्ता निष्फलाः क्रियाः॥<sup>५</sup> अशौचं तु

प्रवक्ष्यामि जन्ममृत्युनिमित्तकम्। यावज्जीवं तृतीयं त यथावदनुपूर्वशः॥<sup>६</sup> जन्म और मरण में जो अशौच होता है और जीवनपर्यन्त जो अशौच होता है, ऐसे तीन अशौच शास्त्र में कहे गये हैं। इस प्रकार दक्षस्मृति कार ने तीन प्रकार के अशौचों को व्याख्यायित किया है। व्यास स्मृति में जन्म व मरणके कारण होने वाले अशौच के सन्दर्भ में लिखा है—

जनने मरणे चैव संपिंडानां द्विजोत्तमः। त्र्यहाचदुद्धिमवाप्नोति योऽग्निवेदसमन्वितः॥<sup>७</sup>

याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रायश्चित्ताध्यायः प्रकरण पर मिताक्षरा टीका में कहा है—  
गृहस्थाश्रमिणां नित्यनैमित्तिका धर्मा उक्ताः, अभिषेकादिगुणयुक्तस्य  
गृहस्थाविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिताः अधुनाः तदधिकारसंकोच-  
हेतुभूताशौचप्रति-पादनमुखेन तेषामपवादाः प्रतिप्राद्यन्ते । आशौचशब्देन च  
कास्नानाद्यपनोद्यः पिण्डोदकदानादिविधेः अध्ययनदिपर्युदास्य च निमित्तभूतः  
पुरुषगतः कश्चातिशयः कथ्यते न पुनः कर्मानधिकारमात्रम् - ‘अशुद्ध बान्धवाः  
सर्वे’ इत्यादावशुद्धशब्दाभिधानात् अशुद्धशब्दस्य च वृद्धव्यवहारेऽ-  
नाहिताग्निदीक्षितादावनाधिकारमात्रे प्रयोगाभावात् वृद्ध  
व्यवहारव्युत्पत्तिनिबन्धनतवाच्च शब्दार्थावगतेः। किं च यद्याशौचिनां  
दानाद्विनिषेधादर्शनात् तद्योग्यत्वमाशौचशब्दाभिधेयं कथ्यते, तर्हि  
उदकदानादिविविदर्शनात् तद्योग्यत्वमप्यभिधेयं स्यात्। तत्रानेकाथकल्पनादोषप्रसंग  
इत्युपेक्षणीयोऽयं पक्षः।<sup>९</sup> इस प्रकार मिताक्षरा में भी आशौच को परिभाषित करते हुए नित्य  
नैमित्तिक कार्यों को न करना ही बताया है। परन्तु इस समय में जो उदकदान, पिण्डदानादि कार्यों  
द्वारा प्रेत की मुक्ति हेतु सहायता प्रदान की जाती है। ऐसे में आशौच के अन्तर्गत व्यक्ति अपने  
सम्बन्धियों के लिये और्ध्वदैहिक कार्यों को करने के लिए स्वतंत्र है। शुद्धि कौमुदी के  
रचनाकार श्री गोविन्दानन्द लिखाते हैं - तस्माज्जनमरणानिबन्धानं  
वेदबोधिकर्मान्हत्वमाशौचमित्यशौचलक्षणम्।<sup>९</sup> इसी मित्रमिश्र ने अपने वीरमित्रोदय के  
शुद्धि प्रकाश में लिखा है कि - तत्र शुद्धिर्नामाशौचसंसर्गाभावः। आशौचं च  
सन्ध्यापंचमहायज्ञा दिनकर्मानदिकारसम्पादकोऽतिशयविशेषज्ञः। स च चेतने  
मननमरणास्पृश्यस्पर्शाद्याहितोऽदृष्टविशेष एवं।<sup>१०</sup> स्मृतिमुक्ताफलम् में वैद्यनाथ दीक्षित  
आशौच काण्ड में आशौच पदार्थ को परिभाषित करते हुये शंख ऋषि के वाक्यों को उद्धृत  
करते हैं-

दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्याय पितृकर्म च। प्रेतकर्मक्रिया यज्ञमाशौचे  
विनिवर्त्तयेत्।<sup>११</sup>

स्मृति का भी उद्धरण यहाँ स्मृतिमुक्ताफलम् में दिया है। देवण्ण भट्ट लिखाते हैं-  
संपिडादिजजने मरणे वा सति प्रायत्ययं दानादिकर्म स्वयोग्यतापादकं  
पापविशेषात्मकं वा तदाशौचशब्देन बोध्यते।<sup>१२</sup> भट्टाचार्य ने आशौच पदार्थ पर  
विचार करते हुए कहा है- पापक्षयो हि शुद्धिः कर्मयोगत्वमेव वा इति शुद्धिपदार्थ

बु वदि भास्तद्विपरितस्य जननमरणानिमित्तापापाविशेषस्य दानादिधर्मानुष्ठानायोग्यत्वस्य वा मतभेदाशौचशब्दाभिधेयत्वं ज्ञापितम्।<sup>१३</sup> विज्ञानेश्वर ने भी आशौच पद को परिभाषित करते हुए कहा- आशौचशब्दन कालः स्नानापनोद्यः कालापनामंतः शवनिमि- तग्रामाशौचं स्नानानोद्य ज्ञायमानसम्बन्धबन्धुमराद्यधं कालस्नानाभ्यामपनोद्यं संपिडादि जनन मरणम् द्याशौचं इत्यर्थ।<sup>१४</sup>

एवउपर्युक्त विवेचन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विहित “आशौच” पदार्थ के लक्षण की स्पष्टता विवेचना करता है।

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. शुद्धिकौमुदी, गोविन्दानन्द कनकाचार्य, पृ. 2, एशियाटिक सोसायटी- 1905
2. वीरमित्रोदय, शुद्धिप्रकाश पृष्ठ संख्या, 9 चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1987
3. आशौच पंजिका, पण्डित मधुसूदन ओझा, पृ. 3, वि.सं. 2008
4. कात्यायन स्मृति 24.1-2
5. दक्ष स्मृति 5.1-2
6. दक्ष स्मृति 6.1
7. शंखा स्मृति 15.1
8. याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, 1 मिताक्षरा टीका, ब्रह्मवादिनी प्रेस, 1912
9. शुद्धिकौमुदी, श्री गोविन्दानन्द, ऐशियाटिक सोसायटी, 1905, पृ. 5
10. वीरमित्रोदय, शुद्धिप्रकाश, पृ. 8
11. स्मतिमुक्ताफलम्, आशौचकाण्डम् पृ. 477 शंखास्मृति
12. स्मतिमुक्ताफलम्, आशौचकाण्डम् पृ. 477 शंखास्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, आशौच खण्ड
13. स्मतिमुक्ताफलम्, आशौचकाण्डम् पृ. 477
14. स्मतिमुक्ताफलम्, आशौचकाण्डम् पृ. 477

# कविता एवं काव्यशास्त्र की सम्पृक्ति

डॉ. सरौज कौशल

आधुनिक संस्कृत कविता का परिदृश्य समृद्ध सम्भावनाओं के नूतन वातायन उन्मीलित करता है। जिस प्रकार संस्कृत कविता की श्रेष्ठ परम्परा के समकक्ष संस्कृत कविता की दूसरी परम्परा अनवरत रूप से प्रवर्तमान होती रही उसी प्रकार आधुनिक संस्कृत में पण्डितराजजगन्नाथोत्तरवर्ती काव्यशास्त्र की समृद्ध और युगानुकूल परम्परा के समानान्तर काव्यशास्त्र की भी दूसरी परम्परा प्राप्त होती है। रचनाकारों की समृद्ध परम्परा के काव्यशास्त्र की कविता के व्याज से रचना की है। कविता रचना की विकटता, भूमिका, आलोचक के कर्तव्य, काव्य के प्रयोजन आदि अनेक सूत्रों का कवि-समुदाय ने ग्रथन किया है। कविता और काव्यशास्त्र की सम्पृक्ति वस्तुतः स्तुत्य और ध्यातव्य है।

काव्य यदि समाज का मार्गदर्शक है तो काव्यशास्त्र काव्य का अनुशासन करता है अथवा काव्य का मार्गदर्शक है। सर्वप्रथम तो संस्कृत का कवि वर्तमान युग की विकटता में कविता की भूमिका पर प्रश्नचिह्न लगाता है -

**कविता वा कतमं प्रयोजनं सम्प्रति पूर्यते।<sup>१</sup>**

पूरा करती है कविता भी अब कौनसा प्रयोजन।

आचार्य रामकरण शर्मा ने भी कवि की किंकर्तव्यविमूढता का विवेचन किया है। कविकर्म के हाशिये पर छूटने की स्थिति से कवि चिन्तित है -

‘जहाँ व्याध हत्यारा हो और साध्वी क्रौञ्चवधू विलाप करने वाली हो वहाँ क्रान्तप्रज्ञ सहृदय में करुणा का उद्रेक स्वयं स्फुरित होता है पर जब क्रौञ्च-युगल ही एक दूसरे पर घात लगाये वार करने को तैयार हों और परस्पर द्वेषाक्रान्त हों तो वहाँ कवि क्या काव्य रचे अथवा वह अपना सिर पटक कर बैठ जाये :-

**तत्र कविः किं कवयेन्मूर्धानं वा स्वयं हन्यात्॥<sup>२</sup>**

संस्कृत कवि को विकटकाल से भय तो है परन्तु संस्कृत की सञ्जीवनी शक्ति पर भी पूरा विश्वास है। संस्कृत कविता तो विलक्षण परम्पराभूमि पर आरूढ है। आचार्य अभिराजराजेन्द्र मिश्र ने इसकी विलक्षणता को रेखाङ्कित किया है:-

---

आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

पुराणी सत्यपीयं देववाणी युवतिरेवास्ते॥

ध्रुवं मुखाकम्बुनेच्छाछयमद्य सत्यमिदं समाध्मातुम्।<sup>३</sup>

देववाणी संस्कृत 'पुराणी' होते हुए भी युवती ही है। यह घोषणा मैं अपने मुखरूपी शंख से करना चाहता हूँ।

आचार्य विद्याधरशास्त्री<sup>४</sup> ने आधुनिक युगबोध में काव्य के परिवर्तमान स्वरूप पर सार्थक टिप्पणी की है। जब प्रत्येक पक्ष में नवीन मति तथा नवीन गति प्रतिफलित हो रही है तो नव्यविमर्शशील युग में काव्य भी नया क्यों न हो ?

वर्तमान में काव्य की विषय-वस्तु में अनेक परिवर्तन हुए हैं। कवि-चिन्तन उसे मार्गदर्शन प्रदान करता है तथा नूतन परिप्रेक्ष्य में काव्य-लक्षण भी गढ़ता है। आचार्य जगन्नाथ पाठक ने कहा कि लोक में प्रायः वाग्वैदग्ध्य को ही कविता माना जाता है परन्तु वस्तुतः मानवता के स्पर्श से सुरभित वाग्वचन ही कविता है :-

वाग्वैदग्ध्यं प्रायो लोके कवितेति मन्वते बहवः।

मानवतायाः स्पर्शात् वस्तुतः कविताः॥<sup>५</sup>

कविता का मानवता से साक्षात् सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्थापना करते हुए आचार्य श्रीनिवास रथ कहते हैं -

का तनुतां भुवि मानवतां

कविता सुतरामितरा।<sup>६</sup>

गत १०० वर्षों में जो सबसे चमत्कारिक परिवर्तन काव्य में हुआ है कि सर्वाधिक सामान्य अथवा हाशिये पर पड़े हुए मनुष्य को काव्य की मुख्य धारा में लाया गया है। समकालीनता की अनेक विकटताओं में यह एक दीपशिखा है कि काव्य ने कपोलकल्पनाओं को विस्थापित कर मनुष्य को केन्द्र में स्थापित किया है। काव्य में केवल सुकवियों के वागर्थ ही नहीं होते अपितु कवि अपने रुदित-हसित आदि निजी अनुभवों को शब्दमुक्तकों में ग्रथित करदेता है :-

कवितासु न सुकवीना वागर्थावेव केवलंभवतः।

हसितानि रुदितानि च निजानि निभृतं निबन्धन्ति।<sup>७</sup>

आचार्य जगन्नाथ पाठक ने 'आर्यासहस्रारामम्' के एक अन्य स्थान पर इस प्रसङ्ग में कहा कि गीतकार का स्वानुभव ही कविता का मुख्य विषय है।

छन्द, व्याकरणादि तो उसमें अन्यथासिद्ध है। यहाँ पाठक जी का आशय यह कदापि नहीं



है कि काव्य में छन्द अथवा व्याकरण अवधेय नहीं है परन्तु कवि के जीवनानुभव को वरीयता प्रदान करते हैं।

**काव्य-प्रक्रिया :-** कविता-रचना किस भावभूमि से की जाती है। उस समय कवि के मन में विचारराशि के परिपाक तथा परिणाम किस प्रकार प्रस्फुटित होते हैं, इस पूरी प्रक्रिया पर कवि सार्थक टिप्पणी देते हैं। नितान्त भिन्न विषयों पर कविता करते हुए काव्य-प्रक्रिया का संकेत प्राप्त होना वस्तुतः आश्चर्यजनक है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने रोटिका-लहरी में इसका निरूपण किया है। रोटी-निर्मिति-प्रक्रिया के व्याज से कविता-सर्जना की प्रक्रिया का निरूपण वस्तुतः अद्भुत है। जिस प्रकार गृहिणी आटा गूँथती है और वृत्ताकार लोए बनाकर प्रमुदितावस्था से रोटी पोती है, उसी प्रकार मैं अपने भीतर के विचार गूँथता हूँ और बन्ध बनाता हूँ कविता के :-

भावरराशिस्तथा चित्तभूमौ मया,

श्लेष्यते योज्यते चार्द्रतां नीयते।

वृत्तरूपैरसौ काव्यबन्धायते।

शारदा सारदा तेन वै पूज्यते।।<sup>५</sup>

यह सामान्य में से विशेष का कर्षण तथा सर्जन है। कविता स्थूल से प्रारम्भ होकर सूक्ष्म जगत्पर्यन्त आरोहण करती है। सर्जना जो भी प्रक्रियासाम्य सर्वत्र विद्यमान रहता है। कविता और काव्यशास्त्र की सम्पृक्ति कविता को आनन्त्य प्रदान करती है। कवि का दृढ़ विश्वास है कि कविता तपस्या के बिना आविर्भूत नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक सर्जना के गर्भ में तपस्या अनिवार्य रूप से विद्यमान होती है -

रोटी जैसी ही हो कविता

तप-तप कर लेती विस्तार,

और नई होती हर बार।<sup>३</sup>

नवनवोन्मेषशालिनी होना कविता की अहं शर्त है। यह नवनवोन्मेषशालिता कविता को समकालीन युगबोध से प्राप्त होती है। कहा भी गया है कि ग्रथनकौशल से ही काव्य नूतन हो जाता है :-

त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।

तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन कौशलात्।।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों के द्वारा भी कविता नई अभिव्यक्तियों का सर्जन

करती है। यही उसकी अनन्तता एवं शाश्वतता है -

पहले-पहले वह रेंगता है  
अभिधा की धरती पर,  
फिर संकेतित अर्थ को पाकर  
भरता है लक्षणा से उड़ान  
फिर होता है अन्त नई अभिव्यक्तियों में  
बढ़ता है व्योम के अनन्त पथ में

भारतीय दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है- 'शब्दगुणकमाकाशम्'। इस दार्शनिक सूत्र को काव्यशास्त्र में सङ्क्रान्तकरना वस्तुतः एक कला है। व्यामे विभु तथा नित्य पदार्थ है और शब्द भी अभिव्यक्त होकर विभु तथा नित्य हो जाता है। अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों पर कविता में कथन करना, उनके मुख्य लक्षण को अभिव्यक्त करना शब्द की अनन्तता को स्थापित करना - ये सब काव्यशास्त्र के विषय हैं, इन्हें सहजता से कविता में गूँथ देने का उपक्रम कोई सिद्धहस्त आचार्य ही कर सकता है।

ऐसी अनेक कवितायें आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने रची हैं।

**कविता का प्रयोजन** - काव्य के प्रयोजन पर काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रभूत चिन्तन किया गया है। आचार्य मम्मट से प्रारम्भ कर अद्यावधिपर्यन्त अनेक अभिनवकाव्यशास्त्र की रचना करने वाली आचार्य परम्परा ने काव्यप्रयोजन पर पृथक् दृष्ट्या विचार-विमर्श किया है। पण्डितराजोत्तर काव्यशास्त्र परम्परा में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने तो प्रथमदृष्ट्या काव्य को निष्प्रयोजन ही स्वीकार किया। तदनन्तर यह भी कहा कि यदि प्रयोजन स्वीकार ही करना है तो राष्ट्रदेव प्रबोधन, युगावश्यकतापूर्ति आदि काव्य के प्रयोजन हो सकते हैं। काव्य राष्ट्ररूप देव को प्रबुद्ध करे, यह अपेक्षा काव्य से की जानी चाहिए।

आचार्य अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने 'कविता' शीर्षक से कविता रची जिसमें काव्य के अलौकिक रसास्वाद को भी प्रयोजन माना तथा वन्दना और अभिनन्दन रूप पवित्रता को भी कविता का प्रयोजन स्वीकार किया -

स्वर्गलभ्यां सुधां निपाययितुम्  
पारणायै समुद्राता कविता॥<sup>10</sup>

पूरी कविता मानो नाना प्रयोजनों की मुक्तामणि गूँथती है। 'कविता' का निगमन सर्वाधिक ध्यातव्य है :-

मर्त्यलोकस्य जाड्यभावानाम्  
वारणायै समुद्रता कवितां॥<sup>११</sup>

मर्त्यलोक की जड़तापूर्ण सम्वेदनाओं को निवारित करने के लिए कविता अवतार लेती है। वर्तमान में सम्वेदनात्मक हानि की अतिशयकता से कवि-हृदय खिन्न है और कविता ही उसे एकमात्र ऐसा उपाय प्रतीत होता है जो संवेदनशून्यता से मुक्त कर समानुभूति-पर्यन्त आरोहण करवा दे।

वाङ्मयी सर्जना से जो प्राप्तव्य है वह पुरुषार्थ द्वारा भी प्राप्य नहीं हो सकता है अतः संस्कृत का कवि काव्यरचना में प्रवृत्त होता :-

शक्यमासीन्न यत्कर्तुमात्मोद्यमैः।  
तत्कृते वाङ्मयीसृष्टिराल्पिता॥<sup>१२</sup>

यह वाङ्मयी सर्जना का व्यतिरेक है, सूक्ष्मता के धरातल पर काव्य-रचना पौरुष की तुलना में उच्चासन पर सुशोभित है।

आचार्य जगन्नाथ पाठक ने कविता में काव्य-प्रयोजन का निरूपण करते हुए कहा -

कविता तद् वक्तव्यं येन तमो यातुनाशमिह किञ्चित् ॥ १३ जिससे समाज में फैल हुआ अन्धकार नष्ट हो जाये उसे ही कविता कहा जाना चाहिए। आपाततः तो यह कविता का लक्षण प्रतीत होता है परन्तु यह वस्तुतः कविता का प्रयोजन ही है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में इसी भाव को व्यतिरेक विधि से निरूपित किया है -

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्  
यदि शब्दाह्वयज्ज्योतिसंसारं न दीप्यते॥<sup>१४</sup>

शब्द नामक ज्योति के अभाव में सम्पूर्ण त्रिलोकी गहन अन्धकार में डूब जायेगी। इसी कारिका का प्रतिबिम्ब हम जगन्नाथ पाठक की आर्या में पाते हैं। कविता का लोक अथवा समाज से गहन सम्बन्ध है। कविता तथा लोक परस्परापेक्षा से अनुप्राणित होते हैं। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'शतपत्रम्' नामक ग्रन्थ में कविता को आधार बनाकर सौ पद्यों की रचना की है जिसमें कविता की विविध रूपों से व्याख्या की गई है। यह ग्रन्थ काव्यालारकारिका के समान काव्यशास्त्री ग्रन्थों की परम्परा में तो परिगणित नहीं है परन्तु यह प्रातिस्विक शैली में कविता का निरूपण करता है।

उपतिष्ठति या स्वतो मुहूर्ते।  
विषमे दर्शयितुं प्रकाशमार्गम्॥<sup>१५</sup>

कविता विषमकाल में प्रकाशपथप्रदर्शनार्थ स्वयं उपस्थित हो जाती है। कविता सकारात्मकता तथा आस्था का मन्त्र है। आचार्य रेवा जी ने कविता को नियति की भी नियति कहा है। कविता शिव और शक्ति के सामरस्य में रहती हुई स्वतन्त्रता नामक कलना है।<sup>16</sup> शिव अर्थात् मङ्गल का विधान करना और आत्मविश्वास अथवा स्वाभिमान की शक्ति प्रदान करना – कविता में इन भावों की सम्पृक्ति होनी चाहिए। तभी वह कविता विषममार्ग में पथप्रदर्शिका होगी। जब रेवाप्रसादजी कविता को प्रथम प्रभातकान्ति, स्वस्तिवचो मनुष्यजातेः, आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं तो वे स्थूणानिखनन न्याय से कविता के शिवत्व को दृढ़ करते हैं।

आचार्य मम्मट ने ‘शिवेतरक्षतये’ रूप काव्यप्रयोजन का निर्देश किया है उसी को आधुनिक काव्यशास्त्र के आचार्य ने प्रातिस्विक शैली के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ‘काव्यं अर्थकृते’ का सटीक खण्डन करते हुए आचार्य जगन्नाथ पाठक कहते हैं :-

**केणाश्रित्कवितेयं साधनमास्तां धनस्य वा कीर्तेः।**

**अस्माकं तु मतेयं सुमहत्साध्यं नु जगतीह।<sup>17</sup>**

जिस किसी के लिए कविता धन अथवा कीर्ति का साधन होती होगी परन्तु हमारे लिए तो यह कविता जगत् में सर्वाधिक अभिलषित साध्य है। कविता सहृदयता के चरम से आविर्भूत पवित्रता है, उस चरमपर्यन्त जो नहीं पहुँचता, उसकी कविता वस्तुतः कविता कहलाने योग्य नहीं है। महाराजदीन पाण्डेय ने इसी धरातल पर कविता की व्याख्या करते हुए कहा -

**पथ्यं ये कटुकं कवितत्त्वविषयीकर्तुं यतन्तेऽधुना।**

**यत्सत्यं कविता तदीयकविताऽन्येणा तु गल्लध्वनिः।<sup>18</sup>**

जो आजकल कड़वी दवा को कवित्व का विषय बनाने का प्रयास करते हैं, ठीक उनकी कविता तो कविता है, दूसरों की कविता गले की गलगलाहट है। महाराजदीन पाण्डेय ने कविता में यथार्थ-निरूपण को रेखांकित किया है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के स्तर पर कठोर यथार्थ का निरूपण कविता में किया जाना चाहिए। अन्यथा वह कविता गल्लध्वनि ही होगी। पाण्डेय जी ने कपोल-कल्पनात्मक वर्णन तथा ठकुरसुहाती शैली पर कटाक्ष किया है जो कि वर्तमान में सार्थक प्रतीत होता है।

आचार्य गोविन्दचन्द्रपाण्डेय ने ‘भागीरथी’ में काव्यरचना प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए कहा कि काव्य – रचना पौराणिक समुद्र – मन्थन के समान दुरूह है -

**वाणी वासुकितामधत्त सहसा स्वप्नायमानस्य मे।**

### प्रज्ञा मन्थररूपिणीम् समभवच्चित्तोदधि मध्नती॥

जब मैं काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ, वाणी वासुकिनाम बन गई। बद्धि ने मन्दर पर्वत का रूप धारण किया और चित्तरूपी समुद्र का मन्थन हुआ। अब मैं कौतुकरस में डूबा हुआ सोच रहा हूँ कि इस मन्थन से मुझे कौन से रत्न प्राप्त होंगे – काल का गरल अथवा अनुभूतियों के रस से परिपूर्ण काव्यामृत?

काव्य के रचमान क्षण की व्याख्या करके पाण्डेय जी ने काव्य को परस्पर विष और अमृत की एकत्र सृष्टि कहा है- ‘एवं च काव्यं लोकलोकोत्तरयोः विषामृतयोः प्रतिसन्धानमिव।’

वस्तुतः काव्य में काल की विकटता के साथ समानुभूति का अमृत एकत्र सुशोभित होता है। यद्यपि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि दो विरोधी तत्त्व अथवा भाव एकत्र अवस्थान नहीं कर सकते परन्तु यह काव्य की अनिर्वचनीयता है कि उसमें हलाहल तथा अमृत की एकत्रावस्थिति प्राप्त होती है। अमृत प्राप्ति सावचेत रहने का पाठ काव्य ही पढ़ाता है।

इस भाव को संस्कृत-कवि-परम्परा ने अनेक प्रकार से अनेकधा व्याख्यायित किया है-

### कविता तु हलालस्य गर्भादपि।

#### पीयूषरसस्य कर्षणानि॥

हलाहल विष को भी जो पीयूष रस में परिणत कर देने की सामर्थ्य रखती है – वही वस्तुतः कविता है अथवा यह कविता का प्रयोजन है। विषमता में से जो अमृत अर्थात् आस्था को आविष्कृत कर दे, यही कविता का प्रयोजन हो सकता है। इस प्रकार के प्रयोजन की काव्यशास्त्र में स्थापना नहीं हो सकती, यह प्रयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कविता के अस्तित्व की भी उपपत्ति है।

कविता का एक प्रयोजन यह भी है कि वह संकोच से विस्ता की ओर ले जाती है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने इसी विचार के गर्भ से ‘मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्’ का प्रतिपादन किया है। आचार्य त्रिपाठी ने मुक्ति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। संकुचितप्रमातृत्व का निरास ही मुक्ति है। काव्याधिगम से पाठक संकोच के एक स्तर से मुक्त होता है। उसके पश्चात् क्रमिक संकोचों से मुक्त होकर उत्तरोत्तर उत्कृष्टप्रभातृत्व की ओर अग्रसर होता है।

आचार्य जगन्नाथ पाठक ने भी ‘विच्छित्ति वातायनी’ में कविता के इस पक्ष पर सुन्दर

टिप्पणी की है -

**कविता न ही संकीर्णः कश्चन पन्थाः पुराणमतरूढः।**

**कवि विहगैः सामर्थ्यादवगाह्यं विस्तृतं गगनम्॥<sup>१६</sup>**

कविता कोई संकीर्ण मार्ग नहीं है। वह बँधे-बँधाये मानक अथवा फ्रेम में खचित नहीं की जा सकती है अपितु कवि विहगों के द्वारा स्वकीय सामर्थ्य से कविता के आकाश को विस्तारित किया जा सकता है। वस्तुतः कविता संकोच नहीं है अपितु वह विस्तार है। कविप्रतिभा के विस्तार का पूर्व आचार्य परम्परा ने भी निषेध नहीं किया है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में महाकाव्य-लक्षण प्रस्तुत कर इसी विस्तार का समर्थन किया है -

**कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति।**

**यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराध्यति तद्विदः॥<sup>१७</sup>**

विस्तार अथवा नवनवोन्मेष ही कविता का भवितव्य होना चाहिए। परम्पराओं का पालन कविता का कर्तव्य हो सकता है परन्तु परम्पराओं में नूतनता का आविष्कार भी कवि से अपेक्षित है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'शतपत्रम्' में इसी आशय को आलंकारिक शैली में कहा है - 'कविता न हि सेतुबन्धमात्रं कविता संतरणव्रतं महाब्धेः'<sup>१८</sup>

केवल पुल बाँध लेना ही कविता नहीं है अपितु कविता महासमुद्र के सन्तरण का महान् व्रत भी है। आचार्य द्विवेदी भी कविता को पुलबन्धन अर्थात् संकोच से निकालकर समुद्रसन्तरण अर्थात् गहन विस्तार के शिखर पर आसीन कराना चाहते हैं।

आचार्य जगन्नाथ पाठक ने भी काव्य की असीमता को नवीन शैली के माध्यम से अभिव्यक्त किया है -

**अर्थानामिह सीमा शब्दानामपि च वर्तते सीमा।**

**न परं सीमा काचिच्छब्दार्थमयस्य काव्यस्य॥<sup>१९</sup>**

शब्द भी सीमित हो सकते हैं अर्थ भी सीमित ही हैं परन्तु शब्दार्थ के योग से जो काव्यनिर्मिति होती है उसकी कोई सीमा नहीं है। शब्दार्थसम्पृक्ति नित-नूतन सर्जना में समर्थ है।

असीम काव्य अथवा कालजयी काव्य प्रदान करने की सामर्थ्य भी उसी की हो सकती है जो काव्य को जीविका का साधन न बनाये। आचार्य जगन्नाथ पाठक ने कहा कि ऐसे तो अनेक कवि हैं जो कविता को आजीविका बना लेते हैं परन्तु उनके लिए क्या कहें जिनका जीवन ही कविता है। जो जीवन और कविता में अभेद को साध लेता है वही

संकोचत्यागपूर्वक विस्तार में रमण करता है।

**कविता के लक्षणविकल्प** – कविता का इदमित्थंतया लक्षण किया जाना दुष्कर प्रतीत होता है। यह कविता की अनिर्वचनीयता ही है कि वह इयत्ता के भाव से अपरिमेय है। सम्भवतः इसी कारण से काव्यशास्त्र की मुख्य परम्परा के अतिरिक्त कविता का अनेक लक्षणों से विवेचन किया गया। कविता में अनेक प्रकार से जीवन की विविधवर्णों में विच्छित्तियाँ आविर्भूत होती हैं, जिनकी नाना प्रकार से व्याख्या की गई है।

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने कविता की अनिर्वचनीयता का निरूपण करते हुए उलटवासियों का सुन्दर प्रयोग किया है –

**कविता हृदयस्य संविधानं,  
तरलस्य प्रणयेन मुक्तबन्धनम्।  
वृणुते परतन्त्रतां स्वतन्त्राः  
सुहृदो यत्र विना पराभियोगम्।<sup>२३</sup>**

कविता प्रणयतरल हृदय का एक ऐसा मुक्तबन्ध संविधान है, जिसमें स्वतन्त्र सुहृज्जन परतन्त्रता का वरण करते हैं, वह भी पराभियोग के बिना।

कविता-सर्जना नितान्त स्वतन्त्रता की अपेक्षा रखती है। कवि लीक छोड़ कर प्रवृत्त होते हैं अतः ‘निरङ्कुशाः वै कवयः’ कहा जाता है। कवि-समुदाय केवल परम्परा-पालन ही नहीं करते अपितु नूतन परम्पराओं की सर्जना करते हैं। ऐसे प्रज्ञा-परिपाक वाले स्वतन्त्रचेता कवि जिस कविता में पराभियोग के बिना परतन्त्रता का वरण करते हैं।

कविता जब चिन्तन के धरातल की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है तब तुच्छ प्रयोजनों से रहित होती हुई उल्लासमय स्वात्मदान रूप यज्ञरूप हो जाती है –

**कविता न ही जीविका कवीनां  
कवितोल्लासमयं स्वदानसत्त्रम्।<sup>२४</sup>**

कविता कवियों की आजीविका का साधन नहीं है क्योंकि यह तो क्षुद्र प्रयोजन प्रतीत होता है। वस्तुतः वह तो स्वात्मदानरूप यज्ञ है। कविता में कवि उल्लासमय होकर स्वात्मदान यज्ञ सम्पन्न करता है। उल्लासमय स्वदानसत्त्रम् भी एक प्रकार से उलटबासी ही है।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी भी जीवन को महायज्ञ में हुत करते हैं –

**सृष्टेरेत्र महायज्ञ आत्माध्वयुः प्रकल्पितः।**

काव्यं तत्र हविर्भूतं तेन वै जीवनं हुतम्॥<sup>२५</sup>

इस महायज्ञ में काव्य ही हविर्भूत है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' के माध्यम से यज्ञ की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित की गई है। इसी प्रकार आचार्य जगन्नाथ पाठक भी कविता के दुर्गम मार्ग का सुन्दर संकेत करते हैं। कवितामार्ग सुगम नहीं है; यदि काँटों से अपने पाँवों को विद्ध करने का साहस अथवा सामर्थ्य है तो कविता मार्ग पर गमन करो

विरम विरम शृणु वचनं कवितामार्गं न विद्धि रे सुगम।

यद्युत्सहसे स्वपदा परिदलितुं कण्टकान् व्रज रे॥<sup>२६</sup>

आलोचक के दायित्व –

काव्यशास्त्र की इस दूसरी परम्परा में आलोचक की भूमिका पर भी सार्थक टिप्पणी की गई है।

वक्ति सर्वप्रसादनीं भाषा,

विभाषः शब्दसाधकः को वा॥<sup>२७</sup>

जो सबको प्रसन्न करने वाली भाषा बोलता है वह कैसा काव्यालोचक है? महाराजदीन पाण्डेय ने आलोचक की वर्तमान प्रवृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाया है। आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह यथातथ्य का सटीक कथन करे। केवल मधुर टिप्पणी करना ही आलोचक-दायित्व नहीं है।

आलोचक को लोकज्ञ भी होना चाहिए। जो अन्न का भाव अथवा भूख की आग नहीं जानता, वह कैसा काव्यालोचक है?

अन्नभावं न बुभुक्षादावं।

वेत्ति यः काव्यभावकः को वा॥<sup>२८</sup>

जो लोक के यथार्थ को नहीं जानता वह काव्य की आलोचना में भी सक्षम नहीं हो सकता। काव्य तथा लोक परस्पर विरोधी नहीं है अपितु परस्पर पूरक हैं। काव्य लोक से अनुप्राणित होता है और लोक का मार्गदर्शक तथा अभिप्रेरक है महाराजदीन पाण्डेय की गज़ल के ये अंश आलोचकों को कर्तव्य-बोध कराते हैं। वे उन शब्दसाधकों पर कटाक्ष करते हैं जो सभी को प्रसन्न करने वाली भाषा बोलते हैं। समाज के प्रति कवि-समुदाय का एक उत्तरदायित्व है। मार्गदर्शक कवि भी यदि अपने पुनीत कर्तव्य का निर्वाह नहीं करेगा तो साहित्यिक अराजकता की विकटता उपस्थित हो जायेगी।



आयास के कवि – आचार्य बच्चूलाल अवस्थी ने व्यङ्ग्य के माध्यम से निरर्थक तथा शाब्दिक कर्मकाण्ड करने वाले कवियों को झकझोरते हुए कहा –

व्याकुलोऽर्थड क्व याति काचिन्ता।

शब्दजालस्य सर्जनभूयः॥<sup>२८</sup>

आधुनिक संस्कृत के युगप्रवर्तक साहित्यकार भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने आयास के कवियों पर व्यङ्ग्य किया है –

शब्दाः न स्फुरन्ति रचनासु, नाऽपि भाषावशे

न पुनरशेषबन्धे प्रभविष्यामः।

दासा इव नानुयान्ति वाचमनुप्रासा अपि,

भावमनायासादभिव्यक्तुं नोल्लसिष्यामः॥<sup>३०</sup>

जिनकी रचनाओं में भाषा बन्ध शिथिल हैं, अर्थात् प्रसङ्गानुकूल शब्द-स्फुरण नहीं होता है। अनुप्रासादि अलंकार दास के समान अनुगमन नहीं करते। भावों की अभिव्यक्ति अनायास नहीं होती। ऐसे कवि की काव्यरचना कैसी होगी? इसका निर्णय विद्वज्जन ही करें। डॉ. पुष्पा दीक्षित महोदया भी इस प्रवृत्ति पर भिन्नरीत्या कटाक्ष करती हैं। वे साहित्यिक अराजकता से विषण्ण हैं –

स नोच्चारयितुमति शक्तः कमपि संस्कृतगिरः श्लोकम्।

तदपि तैस्तैः स एवाभ्यर्चते स्नाग्भिः महान् विद्वान्॥<sup>३१</sup>

यह वर्तमान की वस्तुस्थिति का याथातथ्य निरूपण है। एक भी श्लोक का जो शुद्ध उच्चारण करने में समर्थ नहीं है तथापि अनेक प्रकार के सम्मानों से सम्मानित किये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विडम्बनाओं को रेखाङ्कित करते हुए कवियों ने समाज तथा संस्थाओं में व्याप्त अवस्था का संज्ञान लिया है।

सन्दर्भग्रन्थाः —

- 1 तदेव गगनं सैव धरा, पृ.
- 2 वीणा
- 3 शिखरिणी, पृ. 94
- 4 प्रतिपक्षं यत्र मतिर्नवीना गतिर्नवीना च यत्र नित्यम्।  
कथं न तस्मिन् नवमस्तु काव्यं युगे-युगे नव्यविमर्शशीले॥
- 5 जगन्नाथसुभाषित, पृ. 120
- 6 तदेव गगनं सैव धरा, पृ. 73
- 7 (i) आर्यासहस्रारामम्, पृ. 145

(ii) गीतेषु कस्यचिदिह स्वानुभवो लसति गीतकारस्य।

छन्दोव्याकरणादितु घटते तत्रान्यथासिद्धम्।। आर्या. पृ. 143

- 8 लहरीदशकम्, पृ. 41
- 9 लहरीदशकम्, पृ. 41
- 10 कनीनिका, पृ. 128
- 11 वही, पृ. 128
- 12 कनीनिका, पृ. 130
- 13 आर्यासहस्रारामम्, 124
- 14 काव्यादर्श, 1/4
- 15 शतपत्रम्, 11
- 16 वही, 15 (नियतेर्नियतिः स्वातन्त्र्याख्या कलना वा शिवशक्तिसामरस्ये.....।)
- 17 विच्छित्तिवातायनी, पृ. 1/3
- 18 मौनवेधः, महाराजदीनपाण्डेय
- 19 विच्छित्तिवातायनी, कविताशतकम्, पृ. 200
- 20 काव्यादर्श
- 21 शतपत्रम्, 7
- 22 विच्छित्तिवातायनी, 292, पृ. 33
- 23 शतपत्रम्
- 24 शतपत्रम्
- 25 सन्धानम्, 1
- 26 विच्छित्तिवातायनी, 37 पृ. 199
- 27 मौनवेधः,
- 28 मौनवेधः,
- 29 प्रतानिनी, पृ. 170
- 30 सप्तम खण्ड, पृ. 304
- 31

# वाल्मीकीय रामायण में राजधर्म

सुमन लता मीना

भारतीय साहित्य के इतिहास में वह शुभ दिन चिरस्मरणीय रहेगा, जब तमसा नदी के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से यह करुणामयी वाग्धारा प्रस्फुटित हुई—

‘मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥’<sup>1</sup>

भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण इस उपजीव्य काव्य में चित्रित किया गया है, वैसा संसार के किसी अन्य महाकाव्य में वहाँ की संस्कृति का चित्रण शायद ही किया गया हो। मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना के लिये ही महर्षि वाल्मीकि ने इस काव्य को उपनिबद्ध किया है। इस ‘रामायण’ कथा से सम्पूर्ण भारत के जनसाधारण—बाल—वृद्ध—वनिता शिक्षा ही ग्रहण नहीं करते, अपितु अपार आनन्द का अनुभव करते हैं।

इस काव्य में कलात्मक अभिव्यञ्जना के साथ ही वैचारिक दृष्टि से समृद्ध ग्रन्थ में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चिन्तन पर आधारित जीवनमूल्यों की व्यवस्था को अत्यन्त व्यापक, विशिष्ट एवं तर्कसंगत ढंग से पुष्पित एवं पल्लवित किया है। आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में भी राजतन्त्रात्मक ‘रामराज्य’ के आदर्श को स्थापित करने की बात कही जाती है।

वाल्मीकि—रामायण के अनुसार पृथ्वी पर राजा का अवतरण प्रजा की माँग पर ब्रह्मा जी द्वारा पंचदिग्पालों के तेज को संयुक्त करने पर हुआ था। यथोक्तम्—

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।

अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च॥

औष्ण्यं तथा विक्रमं च सौम्यं दण्डं प्रसन्नताम्।

धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर॥’<sup>2</sup>

प्रथम राजा वाल्मीकी—रामायण में ब्रह्म निर्मित है, किन्तु आगे चलकर सम्पूर्ण राजव्यवस्था में राजा का पुत्र ही उत्तराधिकारी होता था। राजा अपने शासनकाल में ही अपना उत्तराधिकारी मन्त्रियों, प्रजाजनों एवं गुरुजनों की सम्मति से घोषित कर देता था। वह

---

शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

उत्तराधिकारी सर्वथा नीतिपरायण एवं योग्य होना चाहिये। स्वयं राजा दशरथ रामचन्द्र जी में राजा होने के समस्त गुणों के विषय में कहते हैं- “राम बल-पराक्रम में इन्द्र और यम के समान, बुद्धि में बृहस्पति के समान और धैर्य में पर्वत के समान है तथा गुणों में तो मुझसे बढ़कर है” -

**यमशक्रसमो वीर्येबृहस्पतिसमो मतौ।**

**महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः॥<sup>३</sup>**

राजा स्वयं अपने उत्तराधिकारी के लिये समस्त प्रजामण्डल के राजाओं एवं जनसमुदाय से सहमति लेता था तथा सभी की सहमति से युवराज का चयन किया जाता था।<sup>४</sup> जिसकी अनुमति समस्त राजसमुदाय एवं स्त्री-पुरुष देते थे, क्योंकि राजपुत्र समस्त प्रजा का रक्षक होता था-

**तं देवदेवोपममात्मजं ते, सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम्।**

**हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं, मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि॥<sup>५</sup>**

इसके अतिरिक्त राजा के लिये कुछ आवश्यक गुण अपेक्षित माने गये हैं, जैसे राजवंश का जेष्ठ पुत्र होना, शान्तचित्त, पराक्रमी, निष्पक्षता, अहंकार-शून्यता, जितेन्द्रियता, न्यायप्रियता, दयालुता, शास्त्रवेत्ता, शरणागतवत्सल, सत्यावादि आदि-

**रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः।**

**साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह।**

**धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः।**

**क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः।**

**मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योनसूयकः।**

**प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः॥<sup>६</sup>**

राजपद प्रदान करते हुए स्वयं राजा युवराज उत्तराधिकारी को राजधर्म से सम्बन्धित बातों को जनसमुदाय के समक्ष घोषणा करता था। स्वयं दशरथ युवराज राम से कहते हैं कि “पुत्र! तुम समस्त गुणों से युक्त हो, परन्तु राजा को काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले दुर्व्यसनों का सर्वथा त्याग कर दो तथा परोक्षवृत्ति से (गुप्तचरों द्वारा यथार्थ बातों का पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवृत्ति से (अर्थात् दरबार में सामने आकर कहने वाली जनता से उनके वृत्तान्तों को (प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठीक-ठीक न्याय प्रदान करने में तत्पर रहना” -

**कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च।**

परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा॥<sup>९</sup>

मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखना। जो राजा कोष्ठागार (भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदि के द्वारा उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके मंत्री, सेनापति तथा प्रजा आदि समस्त प्रकृतियों को प्रिय मानकर, उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वी का पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित रहते हैं, जैसे अमृत पाकर देवता प्रसन्न हुए थे—

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय,  
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून्॥  
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम्।  
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः॥

(वा.रा.अयो.का. ३/४४-४५)

**लोकाराधना एवं राजधर्म—** रामायण के रचनाकार महर्षि वाल्मीकि ने 'लोकाराधना' को राजा का अर्थात् राजा पद पर आसीन व्यक्ति का परमशुभ एवं परमनिःश्रेयस्प्रतिपादित किया है। इसलिये वाल्मीकि—रामायण में नवनियुक्त राजाराम अपने भद्र आदि सखाओं से राजा के विषय में नगरों तथा जनपदों में होने वाली चर्चाओं के विषय में गुप्त रूप से चर्चा करते हैं— 'कि नगर तथा जनपद के लोग मेरे, सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और माता कैकेयी के विषय में क्या-क्या बातें करते हैं? क्योंकि राजा यदि आचार-विचार से हीन हो, तो वे अपने राज्य में तथा वन में (ऋषि-मुनियों के आश्रम में) भी निन्दा के पात्र बन जाते हैं और सर्वत्र उन्हीं की बुराईयों की चर्चा होती है :-

मामाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदा जनाः।  
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम्।  
किं नु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किं नु मातरम्।  
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजन्ति च॥

(वा.रा.उ.का. ४३/५-६)

भवभूति रचित उत्तररामचरित नाटक में नवनियुक्त राजा राम को लोकाराधना विषयक गुरुजन-संदेश प्रेषित करवाना अपरिहार्य माना गया है—

“जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।”<sup>१०</sup>

(उत्तररामचरित-भवभूति-१/पृ. ११)

प्रजानुरंजन में राजा को सावधीनपूर्वक 'स्वकृत-लोकवृत्य' को नियमित व निर्देशित धर्मशास्त्रानुसार करना चाहिये और राजा राम 'इत्थमेव-आचरणीयम्' के संकल्प से युक्त थे। इसका सबसे अच्छा भवभूति के सुप्रसिद्ध नाटक उत्तररामचरित में अष्टावक्र के संदेश-श्रवण के बाद राम ने न केवल कहा, अपितु प्रतिज्ञा की कि-

स्नेहं दयां च, सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥<sup>६</sup>

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।

अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥

वा.रा., उ. काण्ड ४५/१४

राम की यह प्रतिज्ञा मनु व याज्ञवल्क्य-रचित धर्मशास्त्र द्वारा संपोषित है। मनु व याज्ञवल्क्य ने ऐसे कितने ही श्लोकों की लोकाराधना के अन्तर्गत रचना की है, जो सभी राम की इस प्रतिज्ञा में समाहित किये जा सकते हैं। मनु लोकाराधनारत राजा की स्थिति, प्रस्थिति एवं भूमिका पर प्रकाश डालते हुए अपने विचार व्यक्त करते हैं कि- "राजा को चाहिये कि वह न्यायपूर्वक समस्त प्रजा का रक्षण करे। दण्ड ही समस्त प्रजा का रक्षक है, शासक है, पालक है, पोषक है न कि व्यक्ति (राजा)-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा॥

मनुस्मृति-७/१८

लोकाराधना में 'सर्वजहिताय' विषयक राजनीतिक मूल्य-बोध भी समाहित था। इसलिये निजहित का बलिदान 'सर्वजनसुखाय' होने के कारण, जो भी सीता-परित्याग विषयक राजा राम के इस निर्णय में बाधा डालेगा, वह मेरा शत्रु होने के कारण दण्ड का अधिकारी होगा-

तस्मात् त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा।

अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते॥

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।

ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन॥

अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात्।

(वा.रा.उ.का. ४५/२०-२१)

**सीमान्त सुरक्षा एवं राजधर्म-** सीमान्त सुरक्षा का रक्षण राजा का प्रथम कर्तव्य होता था, चाहे वहाँ नगरीय जीवन हो या जंगलराज, किन्तु प्रजा-रक्षण का धर्म-निर्वाह सीमान्त-प्रदेश में न केवल प्रजा के रक्षण की दृष्टि से मूल्यात्मक है, अपितु राजसत्ता का राजा द्वारा नित्य संरक्षण किया जाना चाहिये। इसलिये राज्याभिषेक के सम्पूर्ण होने के कुछ समय उपरान्त ही लोकानुरंजक राजा राम शत्रुघ्न को सीमान्त प्रदेश में लूटपाट एवं हिंसा करने के कारण लवणासुर का ससैन्य दमन करने का आदेश देते हैं- “कथमद्यापि राक्षसत्रासः ? तद्यावदस्य दुरात्मनो माधुरस्य कुम्भीनसीकुमारस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रषेयामि ? मध्ययुगीन भारत में सीमान्त सुरक्षा के प्रति सावचेत रहना राजा के सक्रिय कर्तव्य बोध की ओर संकेत करता है। राजा राम के सीमान्त प्रदेशों में प्रवाहित होने वाली यमुना नदी के तट पर निवास करने वाले ऋषियों का समुदाय राजा राम के दरबार में उपस्थित होकर सुरक्षा की याचना करता है और आगन्तुकों के आगमन कारण जानकर उनका आदरभाव युक्त सम्मान करते हैं और उनके आगमन के प्रयोजन को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा भी करते हैं :-

**तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यमुवाच स महामुनीन्।**

**घातिष्यामि तद् रक्षो व्यपगच्छतु वा भयम्॥**

वा.रा.उ.का ६२/६

इससे राम के एक दूरदर्शी शासक और सीमान्त प्रदेशों की रक्षा के लिये अनवरत सावचेत राजनीतिक चेतना विषयक गुण का ज्ञान होता है। राजा राम जानता था कि सीमान्त प्रदेश से कोई जनसमुदाय तब तक स्थान छोड़कर नहीं आता, जब तक उसे आमन्त्रित करके न बुलाया जाये या फिर उसका जीवन खतरे में नहीं हो। बिना बुलाये आगन्तुक के आगमन प्रयोजन जानकर उनकी सुरक्षा की प्रतिज्ञा कर लेना, यह एक नरश्रेष्ठ राजा का सद्गुण है। राजा राम ऋषि-समुदाय से लवणासुर के आहार-विहार के बारे में जानकर शत्रुघ्न की रुचि जानकर लवणासुर के वध के लिए नियुक्त करना तथा अयोध्या में ही लवणासुर को मधुपुरी का राजा बनाकर राज्याभिषेक करना-

**“राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे।**

उ.का. ६२/१६

शत्रुघ्न को अजेय बनाने के लिए राजा राम एक अमोघ अस्त्र प्रदान करते हैं, जिससे लवणासुर का वध किया जा सके-

**अयं शरस्त्वमोघस्ते दिव्यः परपुरंजयः।**

### अनेन लवणं सौम्य हन्तासि रघुनन्दन।

(वा.रा.उ.का. ६३/१६)

वाल्मीकि ने सीमान्त-रक्षण विषयक राजा के दायित्वों का वर्णन ६ सर्गों में किया है, जिससे राजा राम की सीमान्त प्रदेशों की सुरक्षा के प्रति सावचेतता ज्ञात होती है।

**राजा की न्यायिक चेतना** – धर्मशास्त्रों में दण्ड को राजा का पर्याय अर्थात् दण्ड धारण करने के कारण ही राजा होता है। दण्ड प्रयोग के प्रति राजा को सावचेत एवं सावधान रहना चाहिये। एक पति के रूप में राम को लोकनिन्दा का भय नहीं है, अपितु एक राजा के रूप में राम लोकनिन्दा से भयभीत हैं। भारतीय राजसत्ताओं के ऐतिहासिक विकास में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनीतिक जीवनमूल्य है कि राजा भी लोकाराधना का विषय होता था। तभी अपने गुप्तचरों के द्वारा सीता के जनापवाद के बारे में सुनकर तुरन्त लक्ष्मण को सीता को राज्य की सीमाओं से बाहर छोड़ने का अविलम्ब आदेश देते हैं – “कि गंगा के पार तमसा नदी के तट पर सीता को छोड़ दिया जाये। मेरी इस आज्ञा का लक्ष्मण पालन करो और सीता के विषय में मुझसे कोई बात नहीं करनी चाहिए। यदि इस विषय में किसी ने अड़चन डाली, तो मुझे बड़ा कष्ट होगा” –

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।

ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन॥

अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात्॥

वा.रा.उ.का. ४५/२१

जैसा आचरण राजा करता है, प्रजा भी उसी का अनुसरण करती है। ‘यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते।’ (वा.रा.उ. का-४३/१६) क्योंकि वचन से मुकरना राजा के लिये लोकनिन्दा का विषय होता था। राम जब अपने वंश के पूर्ववर्ती राजाओं के राज्याचार का स्मरण करते हैं, तो वे पाते हैं कि स्वयं उनके पिता राजा दशरथ के वचनभंग-दोषजन्य निन्दा से बचने के लिये अपने नवविवाहित प्रिय पुत्र राम का पुत्रवधू सीता व लक्ष्मण सहित परित्याग कर दिया और वचन-निर्वाह करते हुए स्वयं के प्राण-त्याग दिये।

**राष्ट्र के लिये राजा का महत्त्व** – एक राष्ट्र के लिये राजा का होना कितना अत्यावश्यक है, इसका उल्लेख वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाण्ड ७६ वें सर्ग में स्वयं मार्कण्डेय ऋषि वसिष्ठमुनि के समक्ष करते हुए कहते हैं कि “जिस राज्य में कोई राजा नहीं रहता, उस राज्य में विद्युतमालाओं से अलंकृत मेघ पृथ्वी पर दिव्य जल की वर्षा नहीं करते। खेतों में समय पर



बीजों को बिखेरा (बोया) नहीं जाता तथा राजारहित देश में पुत्र-पिता के तथा स्त्री-पुरुष के वश में नहीं रहती-

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।  
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥  
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।  
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या या वर्तते वशे॥

(वा.रा. अयोध्याकाण्ड ७६/९-१०)

राजा अपने उत्तम चरित्र से यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली वरुण से भी अधिक श्रेष्ठ हो जाता है, क्योंकि यमराज केवल दण्ड देता है, कुबेर केवल धन देता है, इन्द्र केवल पालन करता है और वरुण केवल लोगों को सदाचार से नियन्त्रित करता था, परन्तु एक श्रेष्ठ राजा में ये चारों गुणों का आश्रय होता है-

यमो वैश्रणवः शक्रो वरुणश्च महाबलः।  
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः॥

(वा.रा.अ.का. ७६/३५)

राजहीन राष्ट्र में धन अपना नहीं होता। वहाँ हमेशा भय तथा अराजकता का वातावरण बना रहता है। वहाँ पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती अर्थात् जहाँ पति-पत्नी आदि का सत्य या पवित्र सम्बन्ध नहीं रह सकता, वहाँ अन्य कोई सत्य कैसे रह सकता है?:-

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके।  
इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके॥

(वा.रा.अ. का ७६/७९)

राष्ट्राध्यक्ष के अभाव में कोई मनुष्य पंचायत भवन, धर्मशाला, पुण्यगृह, रमणीय उद्यान आदि का निर्माण नहीं करा सकता। जब कोई राष्ट्राध्यक्ष ही नहीं होता, तो जनपदों में स्वभावतः यज्ञ करने वाले द्विज और कठोर व्रत का पालन करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते, जिनमें सभी ऋत्विज् और यजमान होते हैं।<sup>११</sup> धन सम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा इस भय से नहीं देते कि कोई उन्हें धनी समझकर लूट न ले। अराजक देश में राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने वाले उत्सव, जिनमें नर्तक और नट हर्ष के साथ अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं, वे पलायन कर अन्य राष्ट्र की शरण में चले जाते हैं। बिना राजा के राज्य में धनी लोग सुरक्षित नहीं रह पाते तथा कृषि और गौ रक्षा से

जीविका-निर्वाह करने वाला वैश्यवर्ग भी निःशंक होकर नहीं रह पाते-

**नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।**

**शेरते विवृतद्वाराः कृषि गोरक्षजीविनः॥**

राष्ट्राध्यक्ष के अभाव में सैन्य-शासन को सुदृढ़ करने वाले धनुर्धर एवं योद्धाओं के सैन्याभ्यास या बाण चलाने वाले वीरों की प्रत्यञ्चा का कलरव सुनाई नहीं देता। जिस राज्य में कोई राजा नहीं होता, उस जनपद में संध्या हो, वहीं डेरा डाल देने वाला, अपने अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का ध्यान करने वाला और अकेला ही विचरण करने वाला जितेन्द्रिय मुनि भी नहीं घूमता-फिरता है।<sup>12</sup>

अराजक राष्ट्र में 'मत्स्य-न्याय' का सिद्धान्त सर्वत्र दिखाई देता। बड़े एवं बलशाली लोग सदैव कमजोर एवं असमर्थ लोगों को सदा लूटते-खसोटते रहते हैं। वनों और उपवनों में शास्त्रों से विभूषित ऋषिजन नहीं ठहर पाते, क्योंकि जहाँ अराजकता फैल जाती है, उस जनपद में मन को वश में रखने वाले जितेन्द्रिय लोगों के लिए घृत, पुष्प एवं मिष्ठान तथा दक्षिणा की व्यवस्था भी नहीं होती अर्थात् अराजक राष्ट्र उसी प्रकार शोभित नहीं होता- जैसे जल के बिना नदियाँ, घास के बिना वन और ग्वालों के बिना गायें। राजा ही राष्ट्र के भीतर सत्य और धर्म का प्रवर्तक होता है अर्थात् राजा ही साक्षात् सत्य और धर्म है। राजा ही कुलवानों का कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा राजा ही मनुष्यों का हित करने वाला है-

**राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।**

**राजा माता पिता चैव राजा हितकारो नृणाम्।<sup>13</sup>**

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

- |                                    |                                  |
|------------------------------------|----------------------------------|
| 1. वाल्मीकि-रामायण, बालकाण्ड- 2/15 | 2. वा.रा., अरण्यकाण्ड - 40/12-13 |
| 3. वा.रा. अयोध्याकाण्ड-1/39        | 4. वही-2/15, 23, 26, 52          |
| 5. वही-2/54                        | 6. वही-2/29, 31, 32              |
| 7. वही-3/43                        | 8. उत्तररामचरित-भवभूति- 1/पृ. 11 |
| 9. उत्तररामचरित-भवभूति- 1/पृ. 25   | 10. वा.रा. अयोध्याकाण्ड-11/23,24 |
| 11. वा.रा.अ.का.-76/18              | 12. वा.रा.अ.का.-76/23            |
| 13. वा.रा.अ.का.-76/34              |                                  |

# अग्निपुराण में राजप्रबन्धन

डॉ. यादराम मीना

अष्टादश पुराणों की जो सूची उपलब्ध है, उनमें 'अग्निपुराण' का अग्नि या 'आग्नेय' नाम अवश्य मिलता है, जिससे अग्निपुराण की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता ज्ञात होती है। भारतीय परम्परा के अनुसार पुराण वेदों के समान ही अनादि हैं। अथर्ववेद का प्रस्तुत मन्त्र इस तथ्य की पुष्टि करता है-

ऋचः सामानि छंदासि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जिरे सर्वेदिवि देवा दिविश्रिताः।

अथर्ववेद-११/७/२४

अग्निपुराण के अन्तर्गत राज्य-प्रबन्धन के संदर्भ में अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तकों ने राष्ट्र तथा राजप्रबन्धन के सन्दर्भ में अनेक ग्रन्थों में अपने विचारों को उल्लिखित किया है। इस सन्दर्भ में महाभारत के शान्तिपर्व में एक स्थान पर भीष्म कहते हैं कि- 'एक समय ऐसा था, जब कोई राज्य नहीं था, न ही कोई दण्ड था और न दाण्डिक। यथा-

न वै राज्यं न राजासीन्न न दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

महाभारत, शान्तिपर्व-५६/१४

कौटिल्य कहते हैं कि एक समय अराजकता का था और 'मत्स्य-न्याय' प्रचलित था अर्थात् बड़ी मछली छोटी मछली को खाने को हमेशा आतुर रहती थी, इसमें राजप्रबन्धन के सन्दर्भ में मनुस्मृति का दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है-

अराजेक हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥

मनुस्मृति-७/३

राजप्रबन्धन के सन्दर्भ में अग्निपुराण में पर्याप्त उद्धरण उपलब्ध हैं। अग्निपुराण में राज्य के प्रबन्धन के सात अंगों का उल्लेख मिलता है, जिनमें राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल एवं

मित्र हैं—

स्वाम्यामात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोषो बलं सुहृत्।  
परस्परपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते॥

अग्निपुराण-२३६/१

राज्य के अंगों में राजा और अमात्य के पश्चात् 'राष्ट्र' प्रधान है। अतः उसका सर्वदा पालन-पोषण करना प्रत्येक राष्ट्रवासी का कर्तव्य है। इन सात अंगों में पूर्व-पूर्व अंग पर अंग की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अग्निपुराण के अनुसार मत्स्यपुराण भी राष्ट्र के सात अंग स्वीकारता है—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, दण्ड कोष, मित्र।<sup>१</sup> कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी सात अंगों का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup>

राज्य के सप्तांगों में सर्वप्रथम 'राजा' महत्त्वपूर्ण है। अग्निपुराण के अनुसार राज्य-प्राप्ति के पर्यन्त राजा के अभिषेक को बड़े समारोह के रूप में मनाना चाहिये और एक राजा की मृत्यु के उपरान्त अविलम्ब नूतन राजा बना देना चाहिये। इनमें समय का निर्धारण नहीं है—

सांवत्सरं नृपः काले ससंभारोऽभिषेचनम्।  
कुर्यान्मृते नृपे नात्र कालस्थ नियमः स्मृतः।

अग्निपुराण-२१८/४-५

राज्याभिषेक के नियम—राजा को सरसों एवं तिल के मिश्रित जल से स्नान कर भद्रासन पर बैठना चाहिए। पुरोहित राजा का जयघोष करे। अभिषेक से पूर्व पुरोहित को इन्द्रशान्ति का आयोजन करे। अभिषेक के दिन राजा को उपवास एवं हवनादि करना चाहिये। अग्नि के दक्षिण भाग में अपराजिता (लता विशेष) से वेष्टित तथा आम्रपल्लव युक्त स्वर्णकलश की स्थापना कर गन्ध-पुष्प आदि से उसकी पूजा करनी चाहिये। अग्निपुराण में अभिषेक के समय राजा के शरीर के विभिन्न अंगों को विभिन्न स्थानों की मिट्टी से शुद्ध करने का विधान बताया है, जैसे वाल्मीकि (बांवी) की मिट्टी से कानों, विष्णु मन्दिर की मिट्टी से मुख को, इन्द्रालय की मिट्टी से ग्रीवा को, राजा के चतुःशाल की मिट्टी से हृदय को, हाथी की सूंड से उखाड़ी गई मिट्टी से बाँयी भुजा को, सरोवर की मिट्टी से पीठ को, नदियों की मिट्टी से उदर को शुद्ध करना चाहिये।<sup>३</sup> उसके बाद अमात्यगण चार प्रकार के घड़ों से स्नान करायें। ब्राह्मण घृतपूर्ण स्वर्ण कलश से पूर्व दिशा से, क्षत्रिय दुग्धयुक्त रजत कलश से दक्षिण दिशा से, वैश्य दधियुक्त ताम्रघृत कलश से पश्चिम दिशा से तथा उत्तर दिशा से शूद्र जल युक्त मिट्टी के घड़े से अभिषेक करें।<sup>४</sup> तदनन्तर राजा को ब्राह्मणों को भूमि, गौ एवं अन्य लोगों को अन्न का दान करना

चाहिये।<sup>४</sup>

**राजा की नित्यचर्या**— एक राजा के लिये यह आवश्यक है कि उसकी दिनचर्या सुनिश्चित हो, जिससे राज्य का शासन सुचारु रूप से चल सके। अग्निपुराण के अतिरिक्त अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों में भी राजा की नित्यचर्या का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अनुसार राजा अपनी सुविधा के लिए दिन एवं रात्रि के कार्यों को आठ-आठ भागों में विभक्त करे— “नाडिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभज्येत्।”<sup>५</sup> अग्निपुराण के अनुसार राजा को दो मुहूर्त रात्रि शेष रह जाने पर निद्रा का परित्याग करना चाहिये— “द्विमुहूर्तं विशेषायां रात्रौ निद्रां त्यजेन्नृपः।”<sup>६</sup> राजा को जागरण के तुरन्त बाद गुप्तचरों से मिलने का प्रावधान है, परन्तु किसी अन्य को इस मन्त्रणा की जानकारी नहीं होनी चाहिये—

“पश्येद्रूढास्ततो नरान् विज्ञायते न ये लोकास्तदीया इति केनचित्।”<sup>७</sup>

इसके बाद स्नान, पूजा, दान तथा मांगलिक कार्यों के बाद गुरु से आशीर्वाद ले। तदनन्तर सभा में जाकर ब्राह्मण, अमात्य, मन्त्री तथा प्रजा जनों से भेंट करनी चाहिए:—

तत्रस्थो ब्राह्मणा पश्येदमात्या मन्त्रिणस्तथा।

प्रद्वतिश्च महाभाग प्रतिहार निवेदिताः॥<sup>८</sup>

**राजा के गुण**— राजा राष्ट्र का प्रधान होता है, इसलिये यह आवश्यक है कि वह सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए, जिसे राष्ट्र का प्रबन्धन सुचारु रूप से हो सके। राजा अपने विशेष गुणों के कारण ही साधारण मानव के स्तर से उठकर प्रजापालक नृप के रूप में पूजा जाता है। इसलिए राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हेतु राजा में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है।<sup>१०</sup> अग्निपुराण में राजा के कुछ महत्त्वपूर्ण गुण निम्न प्रकार से हैं जैसे—कुलीनता, सत्त्व, युवावस्था, शील, दाक्षिण्य, शीघ्रकारिता, सत्य, वृद्ध-सेवा, द्रुतज्ञता, बुद्धि, दृढ़भक्तिता, उत्साह, धार्मिकता, वागचतुरता, उत्साही, बलवान्, वशी, दण्ड देने में निपुण, शिल्पवेत्ता, दुष्टों को दण्ड देने वाला, क्रोध, द्रोह, भय, दम्भ एवं चञ्चलता से रहित, मधुर भाषी आदि।<sup>११</sup>

**राजा के कार्य**— प्रजानुरञ्जन में राजा को सावधानीपूर्वक ‘स्थकृत-लोकवृत्य’ को नियमित एवं निर्देशित धर्मशास्त्रानुसार करना चाहिए और ‘इत्थमेव आचरणीयम्’ के संकल्प से युक्त होना चाहिये। लोकाराधना को राजा का अर्थात् राजपद पर आसीन मानव का परमशुभ परमनिःश्रेयस्प्रतिपादित किया है। राजा को चाहिये कि वह न्यायपूर्वक समस्त प्रजा का रक्षण करे। दण्ड ही समस्त प्रजा का रक्षक है, शासक है, पालक है, पोषक है, न कि व्यक्ति।<sup>१२</sup> राजा

को चाहिये की वह विवेकपूर्वक दण्ड-शक्ति का देशकाल आदि के अनुसार प्रयोग करे-

तं देशकालौ शक्तिं च विद्याच्चावेक्ष्य तत्त्वतः।

यथार्हतः संप्रणयेन्नरेश्वरन्यायवर्तिषु॥<sup>१३</sup>

किसी भी लोककल्याणकारी राजा का प्रथम कर्तव्य है-देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा अर्थात् प्रजा की सुरक्षा राजा का प्रथम कर्तव्य है। राजा को प्रजा के ऊपर अनुग्रह एवं अनुकूल आचरण करना चाहिये। अग्निपुराण के रामोक्तनीति-अध्याय में राजा के चार प्रकार के कर्तव्य बतलाये गए हैं-न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना, उसे बढ़ाना, उसकी रक्षा करना और उसे सुपात्र को देना-

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं रक्षणं चरेत्।

सत्पात्रं प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम्॥<sup>१४</sup>

राजा को कभी भी धर्म के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। किसी भी दीन-हीन को नहीं सताना चाहिये, क्योंकि सताये हुए दीन जन के शाप से राजा का सर्वनाश हो जाता है-

“कृपणः पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम्”<sup>१५</sup>

अग्निपुराण के समान ही गरुडपुराण में राजा के पाँच कर्तव्य बतलाये हैं-

१. क्षिति रक्षण २. प्रजापलन ३. धर्मरक्षण ४. समाजरक्षण ५. राष्ट्ररक्षण॥<sup>१६</sup>

मनु, याज्ञवल्क्य और कौटिल्य के प्रजानुरञ्जक राजा के विषय में व्यक्त विचारों का सार संक्षेप में यह है कि-“लोकानुरञ्जक राजा वही होता है, जो कि अपनी समस्त प्रजा के लिए सर्वविद, सर्वकालिक और सर्वांगीण रूप से निःश्रेयस्करी हो।”

**राजसहायक-** राज्य-प्रबन्धन को उसका राजा तभी चला सकता है, जब उसकी सहायता करने वाले सहायक योग्य एवं कुशल हों। अग्निपुराण के अनुसार राजा को उत्तम, मध्यम एवं अधम कार्यों की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के सहायकों को नियुक्त करना चाहिये।<sup>१७</sup>

**अमात्य:-** राज्य के सप्तांगों में अमात्य का राजा के बाद प्रमुख स्थान है। अग्निपुराण में अमात्य के समानार्थक मन्त्री एवं सचिव का भी प्रयोग हुआ है। अग्निपुराणकार के अनुसार राजा के मन्त्रियों को कुलीन, पवित्र, शूर, शास्त्रज्ञ अनुरागी एवं दण्डनीति में कुशल होना चाहिए। राजा का मन्त्री वह हो सकता है, जो विग्रह का ज्ञाता, वाग्चतुर, प्रगल्भ, उत्साही, सोच-समझकर काम करने वाला, बुद्धिमान्, चपलता से रहित, मित्रवान्, पवित्र, सत्य, पराक्रम, शिल्प-कुशल एवं राजा के प्रति भक्ति रखने वाला होना चाहिये।<sup>१८</sup> कौटिल्य-

अर्थशास्त्र में भी अमात्यों के लिए न्यूनाधिक गुणों का विधान किया है।<sup>१९</sup> इस प्रकार शासन-संचालन व राष्ट्र के रक्षणार्थ मन्त्रियों की नियुक्ति से पूर्व की गई परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। पुरोहित के विषय में अग्निपुराणकार का कथन है-

**त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः।**

**अथर्ववेद विहितं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकौ॥**

**साधुतैषामयान्यानां तद्विधैः सह बुद्धिमान्।<sup>२०</sup>**

अर्थात् पुरोहित वेदत्रयी व दण्डनीति में निपुण होना चाहिए। उसे अन्य ब्राह्मणों के साथ, जो विद्या एवं चरित्र में उनके समान हों। अथर्ववेद में बताई गई विधि से राजा के कल्याण के लिए यज्ञ करना चाहिए। अग्निपुराण में सेनापति का गुणों का उल्लेख करने के स्थान पर उसके वर्ण पर ही विचार किया गया है। पुराणकार के अनुसार राजा ब्राह्मण या क्षत्रिय को ही अपना सेनापति बनाये- “राजा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथ वा।<sup>२१</sup>

राजा का ‘प्रतिहारी’ कुलीन नीतिशास्त्र का ज्ञाता तथा राजनीतिविज्ञ होना चाहिए-

**“कुलीनो नीतिशास्त्रज्ञः प्रतिहारश्च नीतिवत्।”<sup>२२</sup>**

‘दूत’ को प्रियवक्ता, बलवान् और हृष्ट-पुष्ट होना चाहिये- “दूतश्च प्रियवादी स्यादक्षीणोऽतिबलान्वित्।”<sup>२३</sup>

ताम्बूलधारी स्त्री या पुरुष कोई भी हो सकता है, परन्तु उसे राजा का भक्त प्रिय एवं क्लेशसहिष्णु होना चाहिए।<sup>२४</sup> सन्धि-विग्रहिक को षड्गुणों में निपुण होना चाहिये-

**संधिविग्रहिकः कार्यः षाड्गुण्यदिविशारदः,**

**सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमानसनमेव च।**

**द्वैधीभाव संशयश्च षड्गुणाः परिकीर्तिताः।**

अर्थात् षाड्गुण्य नीति के अन्तर्गत सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय आदि तत्त्व आते हैं।

अग्निपुराण के अनुसार ‘रक्षक’ को खड्गधारी होना चाहिए- “खड्गधारी रक्षकः स्यात्।<sup>२५</sup>

अग्निपुराण के अनुसार ‘सारथी’ को सेना के नियमों का ज्ञाता होना चाहिए- ‘सारथि स्यात् बलादिवित्।<sup>२६</sup>

इनके अतिरिक्त ‘सूपाध्यक्ष’ (पाकशास्त्रज्ञ), लेखक, धनाध्यक्ष, वैद्य, गजाध्यक्ष, हयाध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, अन्तःपुराध्यक्ष आदि के विषय में अग्निपुराण में विस्तार से बतलाया गया है।

**कर-प्रबन्धन-** राजकीय आय का मुख्य स्रोत कर (Tax) होता है। स्मृतियों में राजकीय आय के साधनों पर विस्तार से वर्णन मिलता है। मनु ने राजा को निर्देश देते हुए कहा है कि भाल करे-**नृपतौ कोष राष्ट्रं च दूते संधि विपर्ययौ।**<sup>२९</sup>

अग्निपुराण के अनुसार अपने राष्ट्र की विक्रय-वस्तुओं का २० वाँ भाग राजा को कर रूप में लेना चाहिये। किसी भी दशा में कर बीसवें भाग से अधिक नहीं होना चाहिये। स्त्रियों एवं सन्यासियों से राजा को कर नहीं लेना चाहिये। राजा को वन्य-सम्पत्ति पर देशकाल के अनुसार कर लगाना चाहिए। पशुधन पर पञ्चमांश तथा सुवर्ण पर पष्ठांश कर लगाना चाहिये। मधु, मांस, घी एवं सुगन्धित पदार्थों, औषधियों पर पष्ठांश कर लेना चाहिए। तत्कालीन व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ग को कर से छूट का विधान है। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय ब्राह्मण भूख से पीड़ित रहा करते हैं, उसके राज्य में दुर्भिक्ष, व्याधि तथा चोरों का उपद्रव हुआ करता है।

**न्याय-प्रबन्धन-** आधुनिक युग की तरह तत्कालीन समाज-व्यवस्था न्याय का प्रबन्धन करना राजा का आवश्यक कार्य था, क्योंकि दण्ड-प्रबन्धन के द्वारा 'मत्स्य-न्याय' को दूर करने के लिए ही राजा की नियुक्ति का विधान है। मत्स्य-न्याय से मुक्ति के लिये प्रजा ने सर्वप्रथम 'मनु' का अपना राजा या प्रजापालक चुना- **“मात्स्यान्यायाभिभूता प्रजा मनु वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।”**<sup>३०</sup>

राजा का प्रथम कर्तव्य है-प्रजा की रक्षा का प्रबन्धन। प्रजा-रक्षार्थ न्याय की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। सभी विद्वानों ने न्याय-व्यवस्था का आधार दण्ड को माना है। दण्ड-धारण करने के कारण राजा की संसार में पूजा होती है। अग्निपुराण के अनुसार दण्ड-विधान वह है, जिसके पालन से राजा को उत्तम गति मिलती है- **“दण्ड प्रणयनं वक्ष्ये येन राज्ञः परा गतिः।”**<sup>३१</sup> याज्ञवल्क्यस्मृति इस बात की पुष्टि करती है कि दण्ड स्वयं ब्रह्मा से निर्मित है- **“धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।”**<sup>३२</sup>

यदि दण्ड शक्ति को राजा से अलग कर दिया जाये, तो वह साधारण प्रजा की श्रेणी में आता है। इस सन्दर्भ में स्वयं मनु ने कहा है- **“वह दण्ड ही राजा है, वह दण्ड ही पुरुष है, वह दण्ड ही नेता है, वह दण्ड को ही शासक है, वह दण्ड ही सभी आश्रम-धर्मों का प्रतिभूत कहा गया है-**

**स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।**

**चतुर्वर्णमाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥**<sup>३३</sup>



अग्निपुराण में यत्र-तत्र दण्ड-प्रबन्धन के संदर्भ में प्रथम साहस, मध्यम साहस, उत्तम साहस, माष, सुवर्ण आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। माष, सुवर्ण, कृष्णल आदि के मान के सम्बन्ध में आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, जो प्रायः मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों के समान ही हैं। अग्निपुराण में अन्य स्मृतियों में भिन्न मत दिये गये हैं। अग्निपुराण के अनुसार अर्थदण्ड का मान सोने, चाँदी व ताँबे के परिमाण से कहा गया है।<sup>३४</sup> राजप्रबन्धन के विषय में अग्निपुराण अन्य पुराणों के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अग्निपुराण में कहा है कि राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने वाला राजा चिरकाल तक नरक में निवास करता है। अतः राजा को प्रजा के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे कि गर्भवती स्त्री अपने सुख की चिन्ता छोड़कर गर्भ के सुख का ध्यान रखती है। राजा प्रजा के पाप तथा पुण्य दोनों के षष्ठांश का भागी होता है। अतः राजा को राज-प्रबन्धन के प्रति सावधान एवं सावचेत रहना चाहिये और मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित धर्मशास्त्र के नियमों से संपोषित होना आवश्यक है।

#### सन्दर्भग्रन्थाः —

1. स्वाम्यमात्यौ जनपदो दुर्गेदण्डस्तथैव च।  
कोशो मित्रं च धर्मज्ञ सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते॥  
मत्स्यपुराण-220/19
2. स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रद्वतयः। अर्थशास्त्र 6.1
3. अग्निपुराण - 218/13-14
4. अग्निपुराण - 218/18-20
5. अग्निपुराण - 218/30-35
6. अर्थशास्त्र - 1/19/6
7. अग्निपुराण - 233/1
8. अग्निपुराण - 233/2
9. अग्निपुराण - 233/8
10. स्मृतियुगीन शासन-सुरक्षा- डॉ. प्यारेलाल चौहान, पृ.सं. 15
11. अग्निपुराण- 239/1-10
12. मनुस्मृति - 7/18
13. मनुस्मृति - 7/16
14. मत्स्यपुराण - 238/
15. अग्निपुराण-138/14, मनुस्मृति - 7/157
16. गरुड़पुराण- एक अध्ययन, डॉ. अवधबिहारीलाल अवस्थी, पृ.सं. 921
17. अग्निपुराण - 220/10-12

18. अग्निपुराण – 238/11-15
19. 'जानपदो अभिजातः स्ववग्रहः .....। अर्थशास्त्र – 1/9/1
20. अग्निपुराण – 239/16-17
21. अग्निपुराण – 220/1
22. अग्निपुराण – 220/2
23. अग्निपुराण – 220/2
24. 'ताम्बूलधारीना स्त्री वा भक्तः क्लेशसहप्रियः।' अग्निपुराण – 220/3
25. अग्निपुराण – 220/4
26. अग्निपुराण – 220/4
27. मनुस्मृति – 7/65
28. अग्निपुराण – 223/25-34
29. अग्निपुराण – 223/30-34
30. अर्थशास्त्र – 1/13
31. अग्निपुराण – 220/1
32. याज्ञवल्क्यस्मृति – 1/354
33. मनुस्मृति – 8/27
34. अग्निपुराण – 227/1-3

## ब्रह्म विषयक अवधारणा में चतुष्पाद ब्रह्म

डॉ. प्रहलाद सहाय बुनकर

वेद कालीन आध्यात्मिक ज्ञान की प्रक्रिया के अन्तर्गत असत् अर्थात् प्रकृति में सत् अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध ऋषियों ने अपनी मनीषा के द्वारा हृदय में ढूँढकर जान लिया—

**सतः बन्धुमसति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।<sup>१</sup>**

मनीषियों के मन में जब विचार उठने लगा कि अनेक देव हैं तो हम किसकी स्तुति करें? किसे हवि प्रदान करें? ऋषि कहता है कि वह देवता और कोई नहीं, वह एक मात्र परम सत् हिरण्यगर्भ या प्रजापति है, जो देवों में सर्व महान् है, वही विश्व का मूल तत्त्व है, वही द्यावा-पृथिवी को धारण करता है। अमरता और मृत्यु जिसकी छाया है -

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**

**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।**

**य आत्मदा बलदा यस्य विष्व उपासते प्रषिषं यस्य देवाः।**

**यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।<sup>२</sup>**

यहाँ 'यो देवेषु अधिदेव एक आसीत्' के रूप में निश्चित रूप से एक मात्र हिरण्यगर्भ को सभी देवों का अधिदेव या अधिष्ठाता देव बताया गया है। पुरुष सूक्त में पुरुष को सर्वव्यापक एवं जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताया गया है। जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान है वह सब कुछ पुरुष ही है -

**पुरुष ए वेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।<sup>३</sup>**

वह आदि शक्तिमान् है, वही एकमात्र सत् है - 'तदेकं सत्', वही समस्त प्रकृति का आदिकारण है, वह एक सर्वोपरि परमसत्ता है, जो सबमें विद्यमान है, वही विश्व की आत्मा है, वही समस्त विश्व का संचालन करता है, वह एक जगह रहते हुए भी सब जगह पहुँचा हुआ है। सारा जगत् उसी का रूप है, वह देवों का देव है महादेव है, जिसे लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं-

**एकं सद्भिप्राः बहुधा वदन्ति।<sup>४</sup>**

ऋग्वेद में ही देवताओं का वास्तविक सार एक ही बतलाया गया है -

---

सह आचार्य, संस्कृत विभागाध्यक्ष, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय कालाडोरा, जयपुर।

‘महद् देवानां सुरत्वमेकम्।’<sup>४</sup>

यजुर्वेद में उस परमतत्त्व के लिए कहा गया है -

ज्योतिषां ज्योतिरेकम्

अथर्ववेद में कहा गया है कि वह इस जगत् का आत्मा, निष्काम, आत्मनिर्भर, अमर, स्वयंसिद्ध, आनन्दमय, सर्वश्रेष्ठ, नित्य तरूण और शास्वत है। उसके ज्ञान से ही मृत्यु को जीता जा सकता है -

तमेव विद्वान् न विभाव मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते मनाय।।<sup>५</sup>

अथर्ववेद में ही वर्णित है कि अनिर्वचनीय ही समस्त नाम रूप और समस्त सृष्टि का आधार है -

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।<sup>६</sup>

अथर्ववेद में परब्रह्म को सत् असत् दोनों का कारण बताया गया है। वह ऊपर, नीचे, आकाश में सब जगह व्याप्त है तथा उसने ही पृथिवी व आकाश को उत्पन्न किया है। वह परब्रह्म अनेक अभिधानों से अभिहित किया जाता है। कहीं वह काल नाम से विश्व के समस्त वस्तु का आविष्कर्ता माना गया है। उसने ही स्वर्लोक की रचना की और भूलोक की रचना की तथा उसने ही परम व्योम को बनाया है। वह सबका ईश्वर और प्रजापति का पिता है -

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।

कालो ह सर्वस्येष्वरो य पितासीत् प्रजापतेः।।<sup>७</sup>

यास्कृत निरुक्त में उल्लेख है कि समस्त देवगण इस विष्वात्मा के शरीर के अंग हैं -

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।<sup>८</sup>

पुरुष, सत्, हिरण्यगर्भ, एकदेव आदि सभी परवर्ती काल के ब्रह्म ही संकेतित हैं। जो कुछ ससीम है, उसका समन्वय उसी ब्रह्म में है। इस प्रकार ब्रह्म ही असीम है।

इसी अद्वैतवाद के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्म एवं ब्रह्म दोनों की एकता का रूप मिलता है, जो कि उपनिषदों में विकसित होकर समस्त भारतीय दर्शन का मूल तात्त्विक विचार बन जाता है।

उपनिषद् उच्चतम ज्ञान की चरम उपलब्धि है क्योंकि ये आत्मा एवं ब्रह्म में एकत्व प्रतिपादन के साथ शरीर के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करते हैं। उपनिषद् ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के मुख्यद्वार माने जाते हैं। उपनिषदों में परम तत्त्व को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म सत्, चित् और

आनन्द रूप है, वही सबकी आत्मा है और उसी से इस नाम रूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रतिपादित है कि जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसके पास जाते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है -

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,  
यत् प्रयन्त्यभिसंविषन्ति, तद् ब्रह्मेति।<sup>10</sup>

छान्दोग्य श्रुति में शाण्डिल्य का सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करता है। यह समस्त दृश्यमान जगत् ब्रह्म है, यह जीव ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। यह ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि

यथोर्ननाभिःसृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केषलोमानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विष्वम्।<sup>11</sup>

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाला बनाती है और फिर अपने में समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे पुरुष के केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म का परिणाम है, वह अव्यक्त रूप ब्रह्म में से आता है और उसी में लौट जाता है। इसी ब्रह्म के कारण सृष्टि और प्रलयावस्था होती है।

ब्रह्म की साधारण परिभाषा है- 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है। वह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापक आदि है। 'क' ब्रह्म है। 'ख' ब्रह्म है। जो 'क' है वही 'ख' है। जो 'ख' है वही 'क' है। इस प्रसंग में 'क' आनन्द है और 'ख' आकाश है।<sup>12</sup> ब्रह्म सब सत्ताओं का मूल होने से 'सत्' है, चैतन्यों का आधार होने से 'चित्' है और सभी सुखों का मूल स्रोत होने के कारण 'आनन्द' भी माना गया है। अतः ब्रह्म 'सच्चिदानन्द' है।<sup>13</sup> उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश मिलता है- निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म को निर्विशेष भाव होने से 'परब्रह्म' कहा गया है तथा सगुण ब्रह्म को सविशेष भाव होने से 'अपर ब्रह्म' अभिहित किया गया है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निरूपण विस्तार से किया गया है, जो ससीम-असीम, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष रूप में वर्णित है। ब्रह्म प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक काल में विकारहीन एवं नित्य है, जिसे सत्य, ज्ञानरूप एवं अनन्त कहा गया है, वह ब्रह्म रस (आनन्द) रूप है। उसे ही प्राप्त कर आत्मा आनन्दयुक्त हो

जाता है-

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सो वै सः, स होवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।<sup>१४</sup>

आदिशंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण है, जिससे इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होते हैं, जो (संसार) नाम एवं रूप द्वारा विकारित होता है, अनेक कर्ताओं तथा भोक्ताओं से युक्त है, कर्मों तथा परिणामों का आश्रय है और इसकी रचना के विषय में मन की विचार शक्ति भी सोच सकने में समर्थ नहीं होती है।

‘ब्रह्मसूत्र’ से प्रतीत होता है कि ब्रह्म नाम का एक नित्य तत्त्व बाह्य संसार के लिए वैसा ही है जैसा पट के लिए तन्तु, दधि के लिए दूध, घट के लिए मृत्तिका और कंगन के लिए सोना। वह म्रष्टा और सृष्टि दोनों है। कर्ता और कार्य दोनों ही है। वही सत्, चित् (ज्ञान) और आनन्द (सच्चिदानन्द) है किन्तु साथ ही साथ अवयव हीन है, निर्गुण है, कर्मरहित और संवेगरहित है। ‘मैं’ या ‘तू’ में अभिव्यक्त चेतना से हीन है, किसी व्यक्ति या वस्तु को ज्ञान न रखने वाला, किसी व्यक्ति द्वारा अज्ञेय, अनादि, अनन्त, अनश्वर, एकमात्र यथार्थ तत्त्व है।

वेदान्त सूत्र में जगत् का आदि कारण ब्रह्म माना गया। हृदय के भीतर रहने वाला विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डल के भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष ब्रह्म है। आकाश ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है। आत्मा की ज्योति ब्रह्म ही है।<sup>१५</sup>

निर्गुण ब्रह्म जो सभी विषेषणों से परे है। यह निर्विषेष निरवच्छिन्न, नानात्व से परे ब्रह्म ही परब्रह्म है। यही वेदान्त का निर्गुण निरूपाधिक ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म या सविषेषभाव ब्रह्म को ‘अक्षर ब्रह्म’ कहा गया है। यह अपर ब्रह्म ससीम, नित्य, विभु, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता एवं विष्व का सर्जक, पालक तथा संहारक है और सोपाधि होने के कारण वर्णनीय है। शङ्कर वेदान्त का ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता है। ब्रह्म तत्त्व है और जगत् प्रतिभास है। विवर्त के कारण ब्रह्म जगत् रूप में दिखाई देता है जैसे रस्सी सर्प रूप दृष्टिगोचर होती है। माया से उपहित ब्रह्म का नाम ईश्वर है। माया शक्ति ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप से छिपा देती है। ब्रह्म को ही कारण ब्रह्म और ईश्वर को कार्य ब्रह्म कहते हैं।

ब्रह्म की अनेकता असत्य है क्योंकि वह अद्वैत रूप है। ज्ञाता और ज्ञेय तो तत्त्वतः एक ही है। अतः एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, वही सर्वत्र है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। आदि शंकराचार्य ने उस ब्रह्म का एक विषेषण ‘अद्वैत’ बताया है-

‘अद्वैतं भेदविकल्परहितम्’

पं. मधुसूदन ओझा ने अपने वेद विज्ञान ग्रन्थों में चतुष्पाद ब्रह्म - निर्विशेष, परात्पर,

अव्यय, अक्षर की विस्तृत व्याख्या की है।

पं. मधुसूदन ओझा के अनुसार ब्रह्म विज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त चतुष्पाद ब्रह्म की सत्ता पर निर्भर है। मूल में वह निर्विशेष है। वही परात्पर होकर निरंजन होता है और फिर वही परमात्मा सृष्टि रचने की इच्छा से सांजन, सकल स्वरूप धारण करता है और सर्ग, उपसर्ग तक जगत् रूप में परिणित हो जाता है और फिर वही व्यक्तिक्रम से निरंजन, परात्पर होता हुआ निर्विशेष रूप शेष रहता है।<sup>१६</sup>

विश्व का मूल ब्रह्म है, वह एक आद्य, अद्वितीय है। उससे परे कुछ भी श्रेय नहीं हैं। पं. ओझा ने जो इस तूल विश्व का मूल है, उसे ही ब्रह्म कहा है। 'ख' अर्थात् आकाशवत् विभु होने के कारण ब्रह्म से बृहत् कोई सत्ता नहीं हो सकती। वही निर्विशेष ब्रह्म ही आकाशवत् अखण्ड, अनन्त एवं विभु है। वही सबसे पर ब्रह्म है, वह सबसे बृहत् है क्योंकि जगत् का बृंहण उसी से होता है। वही सबका भरण करता है। वही सबका मूल बिन्दु होने से उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।<sup>१७</sup>

पं. ओझा ने परात्पर विमर्श में माया, अषनाया, उर्मि, मन की चिदात्मता, औक्थिक विवर्त आदि का विचार है। समस्त बलों से विषिष्ट रस तत्त्व परात्पर कहलाता है। इसी बीज से विष्व की सृष्टि हुई—

**रसोऽमृतं यौति बलेन मृत्युना मायाशनायोर्मिभिदा त्रिभक्तिना।**

**चिच्चेतनाधर्मि मनस्ततोऽभवत् विश्वस्य तद्वीजमविच्युतं स्थितम्॥<sup>१८</sup>**

जल के समुद्र के बुदबुदों की तरह से ये उपाधियों से घिरे बल युक्त पदार्थ किसी सीमाहीन बल के समुद्र ब्रह्म में अवलम्बित है और वही कहलाता है परात्पर ब्रह्म जो दिशा, देश, काल आदि से सीमित नहीं है, जो असीम है, जो बल का समुद्र है।<sup>१९</sup>

पं. ओझा ने अव्यय विमर्श में कहा है कि बलों की अनन्तता में भी जो माया बल है, वह अन्य बलों की अपेक्षा अधिक विशाल है, उससे आच्छन्न जो रस है, वह अव्यय पुरुष है। जो असीम को सीमित दिखाने की शक्ति से युक्त है, वह माया है। परिमित करने वाले उस माया बल में ही अन्य समस्त बल उत्पन्न होते हैं, प्रतिष्ठित होते हैं और विलीन हो जाते हैं, इसीलिए यह अव्यय पुरुष भी परात्पर से अभिन्न होने के कारण परात्पर के समान ही समस्त धर्मों से युक्त है।

पं. ओझा ने अक्षर विमर्श में प्रथमा सृष्टि, अक्षर, मन, प्राण, वाक्, क्षरात्मक सृष्टि आदि की विषद स्वरूप चर्चा है। रजस् तत्त्व की संज्ञा अक्षर कहलाती है तथा मन, प्राण, वाक्

रूप है। समस्त भूतों की क्षर पुरुष और कूटस्थ को अक्षर रूप में पण्डित जी ने वर्णित किया है। मायाबल विषिष्ट रस में जो निःसीम न रहकर अव्यय संस्था में सीमित सा प्रतीत होने लगता है, जिसमें रस की ही प्रधानता होती है, उसमें जब संसर्ग सम्बन्ध से अन्य बल संयुक्त होता है तब उस बल संसर्ग से नवीन सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इस सर्ग को अक्षर पुरुष कहते हैं। इस अक्षर को ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आत्मा कहा जाता है। अक्षर पुरुषान्तर्गत सीमाबद्ध रस में अन्य बल चयन रूप से संसर्ग करके जब सृष्टि करने के लिए समर्थ होता है, तब वह क्षर पुरुष नाम से कहा जाता है। क्षर पुरुष सब वस्तुओं का उपादान कारण है।

इस प्रकार पं. ओझा ने चतुर्दिक् प्रसृत ज्ञान की चतुष्पाद ब्रह्म विषयक रेणु अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित की, जो कि वैदिक विचार परम्परा के समुद्धार हेतु किया गया अद्वितीय प्रयास है।

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. ऋग्वेद 10.129.4
2. ऋग्वेद 10.121.1-2
3. ऋग्वेद 10.90.2
4. ऋग्वेद 1.164.46
5. ऋग्वेद 3.55.1-22
6. अथर्ववेद 10.8.44
7. अथर्ववेद 11.9.1
8. अथर्ववेद 10.2.25
9. निरुक्त 7.4.9
10. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.1
11. मुण्डकोपनिषद् 1.1.7
12. छान्दोग्योपनिषद् 4.10
13. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.6
14. तैत्तिरोयोपनिषद् 2.7
15. प्राचीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा (डॉ. रामजी उपाध्याय) पृष्ठ 371
16. ब्रह्मविनय, निर्विषेयानुषाक
17. ब्रह्मसिद्धान्त, पं. ओझा
18. ब्रह्मविनय, 2.38
19. ब्रह्म सिद्धान्त, 11.175



# कुतुबमीनार (मेरूस्तम्भ) से कुतुबुद्दीन ऐबक का कोई सम्बन्ध नहीं पंचसिद्धान्तिका के अनुसार ज्योतिषिय परिप्रेक्ष्य

डॉ. जितेन्द्र व्यास

आचार्य वराहमिहिर कई वेधयन्त्रों व वेद्य शालाओं के निर्माता थे। यहाँ यह बात प्रमाणित करने का प्रयास किया जा रहा है कि दिल्ली के मेहरौली में स्थित मेरूस्तम्भ वराहमिहिर की अद्भुत वेद्यशाला थी। इसके लिए हमें इसके निर्माण की आवश्यकता, निर्माणकाल की अवधि, इसकी बनावट, इसमें खण्डित भाग, इसका इतिहास, इसकी स्थापत्य कला के सभी पहलुओं व प्रमाणों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना आवश्यक है।

इतिहास ग्रन्थ 'तबकात-ए-नासीरी' का कहना है कुतुबुद्दीन कि छोटी अंगुली तोड़ दी गई थी और इसलिए उसे ऐबक कहा जाता था ऐबक यानि 'हाथ से पंगु'। इतिहास ग्रन्थ 'ताजुल-मा-आसीर' कहता है कि कुतुबुद्दीन ऐबक काफिरों का विध्वंसक है। अपनी तलवार के दमदार पानी से मूर्तिपूजकों के सारे संसार में जहन्नुम की आग में झोंक दिया। प्रतिमाओं और मूर्तियों के स्थान पर मस्जिद और मदरसों की नींव रखी और इस प्रकार के कारनामों से लोग नौशेराओं, रूस्तम और हातिमताई को भी भूल गए।<sup>1</sup>

कुतुबुद्दीन ईस्वी सन् १२०६ और १२१० तक हिन्दुस्तान में मुस्लिम अधिकृत भू-भाग का नाम मात्र सुल्तान रहा, इन चार सालों में उसका अधिकांश समय जगह-जगह भाग दौड़कर विद्रोह दबाने में व्यस्त रहा। इस बीच दो बार वह गजनी गया तथा छोटे-मोटे युद्ध में उलझा रहा तथा नवम्बर १२१० में प्रारम्भिक दिनों में लाहौर के चौगान में घोड़े से गिरकर मर गया।<sup>२</sup>

दुनिया के किसी भी इतिहासकार ने उसे तथाकथित कुतुबमीनार बनाने का श्रेय नहीं दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार व जम्मू कश्मीर के निवृत्तमान न्यायाधीश श्री आर.बी. कंवर सेन ने इस पर पूरी एक पुस्तक लिखकर यह सिद्ध किया कि कुतुबुद्दीन ऐबक का इस मीनार से कोई वास्ता नहीं था।

"Qutubuddin Aibak, the first Muslim ruler of Delhi, was not the

.....

author or founder of Qutub Minar”<sup>4</sup> नाम के सादृश्य से यदि मान लिया जाये कि उसने यह मीनार बनाई तो प्रश्न उठते हैं— उसने इसका निर्माण कब शुरू किया ? इसमें कुल कितने व्यक्तियों ने काम किया ? कारीगर कौन-कौन थे ? इस पर कुल कितना खर्च आया ? यह पूरी बनकर कब तैयार हुई ? तथा कुतुबुद्दीन ऐबक की तथ्यावली तारीखों ने कहीं भी इस मीनार की चार दीवारी के भीतर ईसा पूर्व २८० साल पुराना गरूड़-स्तम्भ कहाँ से आया ?<sup>५</sup>

‘कुतुब’ एक उर्दू शब्द है, जिसका अर्थ होता ध्रुव और कुतुबमीनार का सीधा-सादा अर्थ है ध्रुवस्तम्भ या ध्रुवतारा देखने की मीनार।<sup>६</sup> अरबी भाषा में भी ‘कुतुबमीनार’ से अर्थ है— ‘नक्षत्र निरीक्षण का स्तम्भ’। चूंकि इस हिन्दु स्तम्भ का उपयोग नक्षत्रों के निरीक्षण के लिए होता था, इसीलिए बातचीत में इसे ‘कुतुबमीनार’ कहा जाता था। जैसे आज भी दिशा सूचक चुम्बकीय यंत्र जो पानी के जहाज व पोत में लगे होते हैं उसे बोल-चाल की भाषा में ‘कुतुबनामा’ या ‘कुतुबघड़ी’ कहते हैं।<sup>७</sup> मुस्लिम इतिहासकारों ने इस साधारण अरबी शब्द को ‘कुतुबुद्दीन’ के साथ उलझा दिया और अर्धनिद्रा में ‘कुतुबमीनार’ के निर्माण का श्रेय कुतुबुद्दीन को दे दिया।<sup>८</sup>

मेरुस्तम्भ का वास्तविक रूप वर्तमान न होकर बहुत विशालकाय था। २७ नक्षत्रों के बोध के लिए इसके चारों ओर २७ नक्षत्र भवन थे, जिसके कार्य पर आज के हिसाब से अरबों रूपया लगा था। यह स्तम्भ दिल्ली की लाट, पृथ्वीराज का विजय स्तम्भ, सूर्य स्तम्भ, वेध स्तम्भ, विक्रम-स्तम्भ आदि नामों से विख्यात था।<sup>९</sup> सन् १९७६ में दिल्ली स्थित तथाकथित कुतुबमीनार का उत्खनन किया गया जिनमें अनेक देव-मूर्तियां निकली, कुछ नींव में तो कुछ दीवारों से। उस समय पुरातत्व विभाग के मंत्री कांग्रेस के सदस्य थे और मुसलमान भी थे। एक और महत्वपूर्ण तथ्य का पता कुतुबमीनार के अभिलेखों को देखने पर चलता है कि अनेक हिन्दु-राजाओं एवं मुस्लिम सुल्तानों ने समय-समय पर इसकी मरम्मत कराई, परन्तु कहीं भी इस भवन का नाम कुतुबमीनार के रूप में अंकित नहीं है तथा इसके आदि निर्माता के रूप में प्रचारित बेचारे कुतुबुद्दीन का नाम भर भी कहीं पर अंकित नहीं है।<sup>१०</sup> इन दोनों भूमिकाओं से उन्हें कुतुबमीनार में हिन्दु प्रमाण मिलना रूचिकर नहीं लगा अतः रात के अन्धेरे में, चोरी-छिपे, उत्खनन में जो हिन्दु-मूर्तियां प्राप्त हुई, उन उत्खनित मूर्तियों को चुपके से वहाँ से दूर ले जाकर गुम करवा दी गई। १० प्रसिद्ध इतिहासकार श्री पी. एन. ओक ने मार्च १९८७ व १९८८ में लगातार अनेक पत्र लिखकर भारत के तत्कालीन पुरातत्व प्रमुख जागतपति जोशी और तत्कालीन राष्ट्रपति श्री शंकर दयाल शर्मा को इस हेरा-फेरी की शिकायत की, लेकिन वे

दोनों आज तक चुप रहे।<sup>११</sup> उपरोक्त सभी प्रमाणों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित गुलाम वंशीय सुल्तान कुतुबुद्दीन का कुतुबमीनार से कोई सम्बन्ध नहीं था, न है। कुतुबुद्दीन जैसा विध्वंसक कभी इसका निर्माता नहीं हो सकता।<sup>१२</sup>

### गरुड़ स्तम्भ, खण्डित मीनार का मलबा, शिलालेखों एवं मूर्तियों का अकाट्य प्रमाण

निर्माण अवधि को ध्यान में रखते हुए यह बात निश्चित है कि प्रस्तुत मेरूस्तम्भ बहुत ही सूझबूझ, योजना के साथ-साथ धीमी गति से एवं पूर्ण मजबूती के साथ किसी हिन्दु सम्राट की देखरेख में बनाया गया हिन्दू स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना है, जिसे उस सम्राट ने मुक्त हस्त से धन खर्च करके बड़ी तसल्ली एवं समय की कलावधि में बड़े प्रेम से बनाया। १३ तथाकथित कुतुबमीनार के परिसर में स्थापित इस गरुड़ स्तम्भ का लोहा इतना शुद्ध है, जिसे विश्व का सर्वाधिक शुद्ध पिटवा लोहा बताया है। इस स्तम्भ में लोहा ९९.७२० प्रतिशत, कार्बन ०.०८० प्रतिशत तथा फोस्फोरस ०.११९ प्रतिशत है। इस लोह स्तम्भ पर कभी काट नहीं आता, धूल नहीं जमती। आज हजारों वर्ष बीत जाने पर भी इस पर आंधी-तूफान, बरसात, गर्मी का कोई असर नहीं हुआ। समग्र संसार में यह भारतीय धातु विज्ञान का एक अनुपम उदाहरण है जिसकी मिसाल दुनिया में कहीं नहीं है।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता के अध्याय ५७, श्लोक १-८ “व्रजलेपाध्याय” में धातुओं के संघात व व्रजलेप बनाने की ऐसी विधि बताई गयी है कि एक करोड़ वर्ष तक विकृत नहीं होती। इस स्तम्भ निर्माण में वराहमिहिर की इसी विधि को प्रयोग में लाया गया है। यथा-

अष्टौ सीसकभागाः कांसस्य द्वौ तु रीतिकाभागः

मयकधित्तो योगोअयं विज्ञेयो वज्रसंघातः ॥

आचार्य डॉ. भोजराज द्विवेदी के शोध अनुसार ब्राही-लिपि में उत्कीर्ण लेख का शुद्ध संस्कृत रूपान्तरण - शिलालेखों पर उत्कीर्ण श्लोक

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्

वंगेष्वहववर्तिनोअभिलिखिता शङगेन कीर्तिर्भुजे ।

तीर्त्वा सप्त मुखान्नि येन समरे सिंधोर्जितावाहलीका

यस्याद्याप्यधिवासते जलनिधिर्वीर्यानिर्लैर्दक्षिणः ॥१  
 खिन्नस्येत्व विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतराम्  
 मूर्त्याकर्म जितावनिं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।  
 शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्  
 नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितिम्॥२  
 प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ  
 चंद्राहेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।  
 तेनाय प्राणिधाय भूमिपतिना भा (धा) वेन विष्णो मूर्तिं  
 प्राशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णुध्वजः स्थापितः॥३  
 मेरूस्तम्भ-हिन्दु स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण

सुप्रसिद्ध इतिहासकार, दार्शनिक एवं पुरातत्व वेत्ता डॉ. डी.एस. त्रिवेदी ने 'कुतुबमीनार अथवा विष्णुध्वज' नामक एक शोधग्रन्थ लिखा। उसमें इस बात हेतु अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि कुतुबमीनार हिन्दु स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है जिसे ईस्वी पूर्व २८० बी.सी. में हिन्दू सम्राट समुद्रगुप्त ने बनाया। इस पुस्तक की भूमिका ने इतिहास मर्मज्ञ सर रामास्वामी अय्यर ने स्पष्ट किया कि समुद्रगुप्त ने अपने शासनकाल में कुल तीन वेधशालाएं- प्रथम-मिहारावली (दिल्ली), द्वितीय-गया (बिहार) में, तृतीय-फिरोज खा (तुर्किस्तान) में बनवाई। इस स्थान (मिहारावली) पर ईसा की चौथी शताब्दी में निर्मित लोहस्तम्भ (विष्णुध्वज) उनके पुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य की कीर्ति में गाड़ा गया। १४

उत्खन्न प्रमाण

कुतुबमीनार की खुदाई में संस्कृत में लिखे शिलालेख एवं लाल पत्थरों पर कामधेनु एवं वराह के राजचिह्न पाये गये। गाय और वराह दोनों ऐसे प्राणी हैं जिनके प्रति इस्लाम को बड़ी शत्रुता एवं घृणा है। १५ भारत में या भारत के बाहर संसार की किसी मस्जिद में गाय, स्वस्तिक, घंटा, विष्णु, गरुड़, पेड़-पौधों व पत्तियों के तोरण व अलंकारिता के चिह्न नहीं मिलेंगे क्योंकि इस्लाम धर्म जहाँ पैदा हुआ वहाँ न पेड़-पौधे थे, न सुन्दर पशु-पक्षी, ना ही पत्तियाँ अतः इनको चित्रित करने की वहाँ स्थापत्य परम्परा न थी। धीरे-धीरे परम्परा रूढ़िवाद बन गई तथा किसी भी जीवन्त प्राणी की आकृति न बनाने का नियम मुस्लिम स्थापत्य कला का अनिवार्य अंग बन गया। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने 'दिल्ली' पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसके पृष्ठ संख्या ५५ पर बताया जनश्रुति के अनुसार

कुतुबमीनार दिल्ली के अन्तिम शासक सम्राट श्री पृथ्वीराज चौहान ने बनाई जहाँ पर जाकर उसकी पुत्री यमुना नदी को उसके उद्गमस्थल के साथ सम्पूर्ण रूप में देखती और नित्य प्रति यमुना नदी की पूजा करती थी। यद्यपि इस मीनार की बाहरी दिखावट इस्लामिक प्रतीत होती है तथापि इसमें हिन्दू स्थापत्य शैली भी बहुतता से मुखरित होती है। इस बारे में, इसमें पाये जाने वाले देवनागरी के शिलालेखों एवं मन्दिरों के मूर्तिमन्त पत्थर स्वयं अपने आप में इस वस्तु-स्थिति के गवाह हैं।<sup>१६</sup> भारत सरकार के पुरातत्व विभाग का यह उद्घरण पूर्णतया चौकाने वाला है एवं अपने आप में महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह इस शोधपत्र को आगे बढ़ाने में दीप स्तम्भ का कार्य कर रहा है। कुतुबमीनार की तीसरी मंजिल पर एक अभिलेख मिलता है-

**“पिरथी निरपः स्तम्भ, मलिकदीन कीरतिस्तम्भ सुलत्राण उल्लाउद्दीन की जय स्तम्भ।”**

यहाँ ‘पिरथी निरपः’ स्तम्भ से अभिप्राय केवल महाराजा पृथ्वीराज चौहान से है जिनका शासन काल ईस्वी सन् ११७५ से ११९३ तक का रहा। यह अभिलेख परवर्ती सभी मुस्लिम शासकों के निर्माण सम्बन्धी सभी दावों को झूठा सिद्ध करता है।<sup>१७</sup> सुप्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता व न्यायाधीश श्री कंवर सेन के मतानुसार हिन्दु स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण यह ‘जय स्तम्भ’ चौहान वंशीय सम्राट श्री विशालदेव विग्रहराज ने अपने दिल्ली विजय के अवसर पर बनवाया।<sup>१८</sup> कुतुबमीनार की पांचवीं मंजिल के प्रवेश द्वार पर एक अभिलेख मिलता है। सभी मुस्लिम शासकों ने झूठे दावों का खण्डन करता हुआ इस भवन के सही नाम को भी बताता है, इसलिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह अभिलेख आज भी स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है।

**“ओं स्वस्ति श्री सुरित्राण फेरोजशाहि विजयराते संवत् १४२५ वरिष्ठ फाल्गुण सुदि ५ शुक्रदिने मुकरो जीर्णोद्धार कृतं श्री विश्वकर्माप्रासादे सुत्रघारी चाहड़देवपाल सुतदोहित्र सुत्रपालः प्रतिष्ठा निष्पातित उदैगज ६२”**

इस अभिलेख में कुतुबमीनार को ‘विश्वकर्मा प्रासाद’ कहा गया है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो गई कि ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक फिरोजशाह तुगलक के जमाने तक इस विशाल भवन को मुस्लिम कृति नहीं माना जाता था बल्कि एक हिन्दु भवन समझा जाता था।<sup>१९</sup> चाहड़देवपाल के पुत्र के दोहित्र ने ईस्वी सन् १४ फरवरी, १३७० शुक्रवार को इस भवन का जीर्णोद्धार व प्रतिष्ठा कराई।

**तथाकथित कुतुबमीनार के मूल में हिन्दु-वास्तुकला**

वास्तु-कला की दृष्टि से एक पक्षी बनकर कुतुबमीनार की अन्तिम मंजिल पर लोहे के स्तम्भ पर चढ़कर नीचे देखा जाये तो कुतुबमीनार की बनावट स्पष्ट रूप से 'मेरू-पृथ्वी/श्रीयंत्र' के समकक्ष कमल-कर्णिकाओं की तरह सुशोभित है। २० सबसे नीचे १६ गज गहरी तथा १६ गज चौड़े घेरे वाली कमल कर्णिका है, फिर एक कमल में से दूसरा, तीसरा, चौथा व पांचवाँ कमलदल निकलता हुआ दिखलाई देता है। यह मात्र हिन्दु वास्तुकला का अनुपम उदाहरण है। मीनार की १२ दिशाओं में १२ राशि वलय एवं सात खण्ड सात स्वर्ग की इंगित करते हैं<sup>११</sup> कुछ विद्वानों ने श्रीमद्भागवत महापुराण २२ के अनुसार इस कुतुबमीनार का सादृश्य हुबहू मेरूपर्वत के मॉडल से स्थापित किया है तथा श्लोक में वर्णित योजन को 'गज' के नाप में बदला है।

अरबी भाषा में ध्रुव को कुतुब और स्तम्भ को मीनार कहते हैं। संस्कृत भाषा में 'ध्रुव' को 'मेरू' भी कहते हैं अतः कुतुबमीनार 'मेरूस्तम्भ' का ही अरबी अनुवाद है।<sup>१२</sup> इसको ऐबक की मुस्लिम कृति सिद्ध करने के लिए परवर्ती कट्टरपंथी मुसलमानों ने मेरूस्तम्भ के चारों तरफ कुरान की आयतें एवं अन्य मुस्लिम सुल्तानों की झूठी प्रशंसा खुदवा दी, जबकि मुस्लिम इतिहासकार सर सैय्यद ने ईमानदारी के साथ 'असर-उस-संदी' में लिखा है कि यह मीनार मुस्लिम कृति नहीं, अपितु यह भवन राजपूत काल में निर्मित एक हिन्दू भवन है।<sup>१३</sup> हिन्दु वास्तुकला के अनुसार प्रत्येक देव मन्दिर का प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख होता है, जिस तरफ सूर्य उदय होता है उसी तरफ ही मूर्ति का मुख या साधक का मुंह होता है। यह पूजन की अनिवार्य शर्त है। मुस्लिम स्थापत्य कला के अनुसार मस्जिद का प्रवेश द्वार पश्चिमाभिमुख होता है तथा एक मुस्लिम, काबा (पश्चिम दिशा की ओर) की तरफ मुंह करके ही नमाज पढ़ेगा। यह इस्लामिक वास्तुकला की अनिवार्य शर्त है, परन्तु कुतुबमीनार तो पश्चिमाभिमुख नहीं है।<sup>१४</sup>

### वेधशाला और छाया प्रमाण

अब तक यह स्पष्ट है कि यह कोई इस्लामी इमारत नहीं है तथा न ही कोई उत्कृष्ट मन्दिर के लक्षण भी इस पर घटित होते हैं क्योंकि इसका प्रवेश द्वार उत्तर की ओर है। रात्रि में दिशा-बोध के लिए, सप्त ऋषियों को पकड़ने के लिए, ग्रह व उचित लग्नों को ठीक से समझने के लिए, हमें सबसे पहले ध्रुव तारे का सहारा लेना पड़ता है ऐसी अवस्था में ज्योतिष नियमों के अनुसार सभी वेधशालाओं के प्रवेश द्वार व झरोखे उत्तराभिमुख होते हैं। यह मीनार भी उत्तराभिमुख है अतः यह एक वेधशाला है। ज्योतिष सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन जन्तर-मन्तर एवं दिल्ली के कर्म-वलय यन्त्रों की तरह इस मीनार का झुकाव भी ५० दक्षिण की ओर

रहा गया है इसका मुख्य कारण यह है कि २१ जून को जब वर्ष का सबसे बड़ा दिन होता है तब दोपहर १२.०० बजे इस विशाल मीनार की परछाई जमीन पर नहीं गिरती। इस विषय में विद्वानों ने खोज की तथा २१ जून १९७० को प्रख्यात पत्रकारों एवं ज्योतिष के विद्वानों के एक दल ने व्यावहारिक तौर पर इसका परीक्षण किया और तथ्य को सत्य पाया जिसके समाचार नवभारत टाइम्स, दैनिक हिन्दुस्तान, नवजीवन एवं अनेक मूर्धन्य समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए। २५ २१ जून को पृथ्वी पर इसकी छाया न पड़ने का कारण यह है कि इस २१ जून को सूर्य मध्यरेखा से २३-३०० डिग्री उतर होता है मेरूस्तम्भ का अक्षांश २८-३१-३८ डिग्री। मध्यरेखा के निर्माणकाल में इसका झुकाव ५-१-२८ डिग्री दक्षिण की ओर दिया गया है। जिसके कारण इसकी छाया उस दिन पृथ्वी पर नहीं पड़ती। सबसे बड़े दिन के बाद उत्तरी गोलार्द्ध के सबसे छोटे दिन २३ दिसम्बर को इस मीनार की छाया तिगुनी मात्रा में अर्थात् सबसे लम्बी दिखलाई पड़ती है, इस दिन इसकी छाया का नाप २८० फीट रिकार्ड किया गया। इस अकाट्य प्रमाण से ही स्पष्ट है कि कुतुबमीनार प्राचीन 'पंचसिद्धान्तिका' की शैली पर निर्मित वराहमिहिर की वेधशाला ही है और कुछ नहीं।<sup>२६</sup>

यथा-

मिथुनान्ते च कुवृत्तादशचतुर्विंशति विहायोच्चैः ।

भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्ठा तदावन्त्याम्॥

नष्टच्छायाअप्येवं, छायोदकतत्प्रभृत्युदक्स्थानाम् ।

तद्दक्षिणदेशानां मध्याह्ने दक्षिणा छाया ॥

**मेरूस्तम्भ (तथाकथित कुतुबमीनार) का वराहमिहिर से सम्बन्ध**

मेरूस्तम्भ मिहरौली में स्थित है। मिहरौली अपभ्रंश शब्द है। शुद्ध शब्द है 'मिहिर+आलय = मिहिरालय'। अर्थात् आचार्य वराहमिहिर के रहने के स्थान को 'मिहिरालय' कहा गया है। जैसे भगवान् शिव के स्थान को शिवालय कहा जाता है। उच्चारण की असुविधा से मिहिरालय के अन्त का य 'ई' में उच्चारित होकर अपभ्रंश रूप से मिहरौली के रूप में परिवर्तित हो गया है जैसे अंगरक्षकी व पगरक्षकी का क्रमशः अंगरखी व पगरखी हो गया। डॉ. डी.एस. त्रिवेदी की व्याख्या इसमें कुछ भिन्न है वे शुद्ध शब्द 'मिहिरावली' मानते हैं। मिहिर का अर्थ है- सूर्य, अवली का अर्थ है- कतार-पंक्ति। जैसे दीप-अवली = दीपावली। ठीक उसी प्रकार से मिहिरावली का अर्थ होता है सूर्यादि नक्षत्रों को देखने वाली वेधशाला और यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत किया गया है।<sup>२७</sup>

यदि ओर गहराई में उतरा जाये तो टीकाकार भरत के अनुसार तो सूर्य जैसी तेजस्वी बुद्धि वाले व्यक्ति को मिहिर कहते हैं।<sup>३८</sup> विश्व की अद्वितीय, अप्रतिम व अद्भुत हिन्दु स्थापत्य कला से ओतप्रोत इस गौरवशाली वेधशाला के निर्माण के पीछे भी विश्व का अद्वितीय एवं विलक्षण मस्तिष्क रहा होगा।

मेरे गुरुदेव श्री डॉ. भोजराज द्विवेदी ने तथा उनके समकक्ष विद्वान साथियों पं. जगन्नाथ भसीन, पं. जगन्नाथ भारद्वाज, पं. सत्यवीर शास्त्री और महान वीर थुल्लू के साथ कुतुबमीनार का निरीक्षण करने २१ जून, १९८४ को गये थे। उन लोगों को मीनार के चारों ओर का विशाल प्रांगण सूखे तालाब सा परिलक्षित हुआ। सम्भवतः एक बहुत बड़े तालाब के बीचो-बीच में यह स्तम्भ बनाया गया था ताकि रात्रि में तालाब के निर्मल जल में ग्रह-नक्षत्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखलाई दे सके एवं दिन में सूर्य के प्रतिबिम्ब के आधार पर नेत्रों पर बिना जोर डाले सूर्य का वेध किया जा सके। निश्चय ही यह विलक्षण योजना मिहिराचार्य के अन्यत्र किसी की नहीं हो सकती है। पं. मायाराम ने स्पष्ट रूप से प्रभावित किया है कि यह वेधशाला वराहमिहिर की थी।<sup>३९</sup>

लग्न के उदयास्त को देखने के लिए, सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों के सही उदय-अस्त कालीन समय की गणना के लिए, ग्रहों की युति, प्रति-युति, श्रंगोन्नति व पारस्परिक युद्ध को देखने के लिए, उस शहर के सबसे उंचे पठारी भाग पर जाकर उसे देखना होता है। १०६ फीट उंची इस कुतुबमीनार की उंचाई का मुख्य कारण यही है, यदि इसे आमोद-प्रमोद, कौतूहल या विलासिता के लिए बनाया होता तो इसमें उस प्रकार की सुविधा व आनन्द-प्रमोद के लिए ठहरने का एकाध प्रकोष्ठ अवश्य होगा, परन्तु ऐसा नहीं है।<sup>४०</sup>

अतः यह 'मेरूस्तम्भ' (तथाकथित कुतुबमीनार) ही वराहमिहिर का विश्वविद्यालय व वेधशाला है। बृहत्संहिता 'ब्रजलेपाध्याय' ५७, श्लोक १-८ के अन्तर्गत धातुसंघात, ब्रजलेप की विधियाँ बताई गई हैं जो कि एक करोड़ वर्ष तक देवप्रासाद, प्रतिमा, खम्भों एवं कुओं को विकृत नहीं होने देती थी सम्भवतः अतः यही तकनीक (गरूड़-ध्वज) लोहस्तम्भ में मुखरित हुई है।

पंचद्विान्तिका, अध्याय १३, श्लोक १०-११ में यह बनाया गया है कि वर्ष के ६ बजे बड़े दिन में दोपहर की १२ बजे सूर्य क्षितिज की सर्वोच्च उंचाई पर हो तब उच्च भवनों की छाया पृथ्वी पर नहीं पड़ती है।<sup>४१</sup>

यथा-



मिथुनान्ते च कुवृत्तादशचतुर्विंशति विहायोच्यैः।  
 भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्ठा तदावन्त्याम्॥  
 नष्टच्छायाअप्येवं, छायोदकतत्प्रभृत्युदक्स्थानाम्।  
 तद्दक्षिणदेशानां मध्याहे दक्षिणा छाया॥

इस आधार से पांच अंश दक्षिण की ओर झुके, भवनों की छाया से वर्ष के सबसे बड़े दिन का वेध व्यावहारिक परीक्षण के आधार पर किया जाता था। इस सूत्र का वर्णन वराहमिहिर को छोड़कर किसी भी प्राचीन ग्रन्थ यथा- नारदसंहिता, गर्गसंहिता, बृहत्पाराशर हौराशास्त्र, भृगुसंहिता, आर्यभट्टीय, सत्यजातकम्, बृहद्यवनजातक इत्यादि में नहीं मिलता। वराहमिहिर ने इस तकनीक का प्रयोग मेरूस्तम्भ के निर्माण में पूर्ण रूप से किया जो कि प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा प्रमाणित है।

पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने बार-बार 'मेरूपर्वत' का वर्णन किया है। यह मेरूपर्वत सम्भवतः मेरूस्तम्भ ही हो सकता है।<sup>३२</sup>

यथा -

मेरोः सममुपरि वियत्यक्षो व्योमस्थितो ध्रुवोअधोअन्यः॥  
 - पद्भ्रमति मेरूमध्या॥

बृहत्संहिता में प्रासादलक्षणाध्याय में भी वराहमिहिर के सबसे पहले छः कोण एवं १२ वलय वाले 'मेरूप्रासाद' बनाने की विधि दी है।<sup>३३</sup>

यथा -

तत्रषडश्रिमेरूर्द्वादशभौमो विचित्रकुहरश्च।  
 द्वारैर्युतश्चतुर्भिर्द्वात्रिंशद्भुस्तविस्तीर्णः॥

वास्तु शास्त्र में प्रखर ज्ञाता गुप्तकाल<sup>३४</sup> में वराहमिहिर के अन्यत्र कोई नहीं हुआ, यह 'मेरूस्तम्भ' ईसा पूर्व ही निर्मित है और निश्चय ही वराहमिहिर इसके पूर्व ही हुए थे। फलतः इस मेरूस्तम्भ के माध्यम से हमें वराहमिहिर के निवास-स्थान कार्यक्षेत्र, वराहमिहिर की तकनीक, उसकी प्रतिभा और वराहमिहिर के काल का प्रबल पुष्ट संकेत मिलता है। इन सभी प्रबल पुष्ट प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है कि मेहरावली में स्थित यह मेरूस्तम्भ ही वराहमिहिर की वेधशाला थी।

सन्दर्भग्रन्थाः —

1. भारत में मुस्लिम सुल्तान/ पी.एन.ओक/ प्रकाशन 1993/ भारतीय साहित्य सदन/नई दिल्ली / अध्याय 5/ पृष्ठ सं. 127, ताजुलू-मा-इलियट एवं डाउसन/ग्रन्थ 2/ पृष्ठ सं. 229
2. भारत में मुस्लिम सुल्तान/ पृष्ठ सं. 138
3. कुतुबमीनार और दिल्ली-की-लाट/ कंवर सेन/ प्रकाशन 1951/ आत्माराम एण्ड संस/ दिल्ली-6/ पृष्ठ सं. 2
4. World directory of Astrology/ प्रकाशन 1986/ प्रकाशक अज्ञात दर्शन, गोल बिल्डिंग के पीछे, फर्स्ट बी रोड, सरदारपुरा, जोधपुर/ पृष्ठ सं. 9
5. वही दृष्टव्य / पृष्ठ सं. 8
6. हिन्दी-अंग्रेजी भार्गव डिक्सनेरी/ पृष्ठ सं. 158
7. भारत में मुस्लिम सुल्तान/ पृष्ठ सं. 139
8. भारतीय खगोल विज्ञान/ पं. जगन्नाथ भारद्वाज/ प्रकाशन 1978/ प्रकाशक मोहन ब्रदर्स 1227/ बंगाली मौहल्ला, अम्बाला छावनी/ पृष्ठ सं. 108
9. वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास/ पी.एन.ओक/ प्रकाशन 1989/ भारतीय साहित्य सदन 39/90, कनॉट सर्कस/ नई दिल्ली/ पृष्ठ सं. 172
10. वही दृष्टव्य / पृष्ठ सं. 175
11. विष्णुध्वज और कुतुबमीनार / डॉ. डी.एस. त्रिवेदी/ पृष्ठ सं. 241
12. कुतुबमीनार और दिल्ली की लाट/ कंवर सेन/ पृष्ठ सं. 3
13. वही दृष्टव्य / पृष्ठ सं. 3
14. विष्णुध्वज और कुतुबमीनार- डॉ. डी.एस. त्रिवेदी / पृष्ठ सं. 1
15. वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (खण्ड 4) / पृष्ठ सं. 175
16. Delhi & its Neighbourhood, Page no.55
17. वराहमिहिर स्मृति ग्रन्थ / पृष्ठ सं. 128
18. कुतुबमीनार और दिल्ली की लाट / कंवर सेन/ पृष्ठ सं. 5
19. वराहमिहिर स्मृति ग्रन्थ / पृष्ठ सं. 129
20. World directory of Astrology, Page No. 11
21. विष्णुध्वज और कुतुबमीनार / पृष्ठ सं. 247
22. श्रीमद्भागवत महापुराण/ स्कन्ध 5/ अध्याय 16/ श्लोक सं. 7/ प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर/ पृष्ठ सं. 608
23. भारतीय खगोल विज्ञान/ पृष्ठ सं. 107
24. वराहमिहिर स्मृति ग्रन्थ/ पृष्ठ सं. 129
25. आचार्य वराहमिहिर का ज्योतिष में योगदान/ डॉ. भोजराज द्विवेदी/ प्रकाशक रंजन पब्लिकेशन, नई दिल्ली / पृष्ठ सं. 106
26. पंचसिद्धान्तिका/ वराहमिहिर / अध्याय 13/ श्लोक सं. 10-11/ पृष्ठ सं. 33
27. विष्णुध्वज और कुतुबमीनार/ डॉ. डी.एस. त्रिवेदी/ पृष्ठ सं. 154
28. शब्दकल्पद्रुम/ खण्ड 2 / पृष्ठ सं. 550

29. वराहमिहिरस्मृतिग्रन्थ/ पृष्ठ सं. 550
30. World directory of Astrology, Page No. 11
31. पंचसिद्धान्तिका/ वराहमिहिर/ अध्याय 13/ श्लोक सं. 11/ पृष्ठ सं. 33
32. पंचसिद्धान्तिका/ वराहमिहिर/ अध्याय 13/ श्लोक सं. 5/ पृष्ठ सं. 32
33. बृहत्संहिता/ वराहमिहिर/ अध्याय 56 प्रासादलक्षणाध्याय/ श्लोक सं. 20 / पृष्ठ सं. 301
34. New Illustrated columbia Encyclopedia, Volume-Vi, Page No. 320

# संशयस्वरूपाकलनाचलपरीक्षणम्

डॉ. महानन्द झा

अप्रमाज्ञानस्य त्रयो भेदाः सन्ति। संशयः, विपर्ययः, तर्कश्च। एतल्लक्षणं हि.

स संशयो मतिर्यास्यादेकत्राभावभावयोः।

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम्।<sup>१</sup>

तथा च एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः। उभयसाधारणधर्मज्ञानम्, असाधारणधर्मज्ञानं, विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यकोटिद्वयज्ञानं संशयस्य कारणं भवति। एकवृत्तिभावाभावविषयकज्ञानत्वस्य वृक्षे कपिसंयोगतदभावज्ञानेतिव्याप्तिस्तद्वारणाय एकधर्मिकविरुद्धेति पदम्। वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरविरुद्धत्वात् तद्वारणम्। भूतलं घटवद् पृथिवीघटाभाववतीत्यत्र ज्ञानेऽतिव्याप्तिवारणाय एकधर्मितावच्छेदकविशिष्टविशेष्य-कत्वावच्छिन्नेति उक्तम्। भूतलं घट-तदभाववत् इति ज्ञानवारणाय विरुद्ध भावाभावेति पदम्। भूतलं भूतल-तदभावाभावमिति ज्ञान वारणाय प्रकारकमिति। इच्छादिवारणाय ज्ञानमिति पदम्।

ननु भूतलं संयोगेन घटवत् समवायेन घटाभाववच्च इतिज्ञानेऽतिव्याप्तिः इति चेन्न तत्सम्बन्धावच्छिन्न तन्निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकताकविशेष्यतानिरूपित तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्विरुद्धं तदभावनिष्ठप्रकारताकज्ञानत्वमिति विवक्षणात्। वस्तुतस्तु स्वावच्छिन्नप्रतिबध्यता निरूपित प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वस्वसामानाधिकर-ण्योभयसम्बन्धेन विषयिताविशिष्ट विषयिताशालिज्ञानत्वं संशयत्वम्।

अन्ये तु तद्विरोधविशिष्ट दैशिकविशेषणता संसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपकत्वं तत्संशयत्वम्। अपरे तु तन्निष्ठप्रकारतानिरूपिता या प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्न तन्निष्ठप्रकारता निरूपिताऽभावत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता च विशेष्यता तन्निरूपकत्वं तत्संशयत्वमिति वदन्ति।

कोटिद्वयसहचरितत्वेन गृह्यमाणो यो धर्मः ऊर्ध्वत्वादिस्तत्प्रकारक निश्चयः संशयकारणम्। तेन घटत्वतदभावसहचरित पटत्ववानयमिति भ्रमात् “अयं घटो न वा इति संशयोत्पत्तिः। उच्चैस्तरत्वम्स्थाण्वस्थाणुसाधारण धर्ममुच्चैस्तरत्वं संशयधर्मिणिज्ञात्वा

“अयं स्थणुत्ववान् तदभाववान्वा” इति संदिग्धे स्थाण्वस्थाणु सहचरितत्वेन वर्तमानग्रहविषय-धर्मप्रकारकपुरोवर्तिविशेष्यकज्ञानात्पुरोवर्तिविशेष्यकस्थाणुत्वतद-भावकोटिसंशयो भवति।

अत्र साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानजन्यकोटिद्वयस्मरणस्यैव संशयजनकत्वं धर्मिज्ञानं तु प्रयोजकत्वमात्रम् इति प्राचीनानामाशयः। नवीनास्तु-कोटिद्वयस्मरणक्षणे एव संशयोत्पत्तिसंभवात् क्षणविलम्बकल्पनायां मानाभावात् साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानजन्य कोटिद्वयस्मरणत्वेन कारणत्वे गौरवात् तत्तद्वृत्तित्वेन हेतुत्वे व्यभिचारात् साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानत्वेन हेतुत्वं युक्तमिति।

अत्र “समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः” इति गौतमसूत्रो “विरुद्धकोटिद्वयवाक्यात्मकविप्रतिपत्तेः” शब्दो नित्यो न वा इत्याकारिकायाः अर्थद्वयस्मृतिद्वारा संशयजनकत्वमुक्तं तत्खण्डयति-“विप्रतिपत्तिस्तु शब्दो नित्यो न वा इत्यादि शब्दात्मिका न संशयकारणं भवति”<sup>३</sup> तथा च संशयात्मकशाब्दबोधोपि न नीकर्तव्यः। शब्दज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानस्य अतिदेशवाक्यार्थज्ञानस्य च प्रत्यक्षान्यनिश्चयमात्राजनकत्वात्मक असाधारणधर्मवत्त्वात्। तथा च विप्रतिपत्त्यादि शब्दज्ञानं संशयजनकं प्रत्यक्षान्यनिश्चयकारणत्वात् व्याप्तिज्ञानादिवत् इत्यनुमानेन विप्रतिपत्तेः संशयाजनकत्वसिद्धिः।

ननु विप्रतिपत्तेः संशयाजनकत्वे उक्तसूत्रास्याप्रामाण्यापत्तेः, किं समाधान-मित्यत्रोच्यते। “तत्रा शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते<sup>४</sup> तथा च कोटिद्वयव्याप्यवत्ता-ज्ञानकाले भावाभावरूपकोटिद्वय शाब्दसामग्रीसत्वे एकैकशाब्दं प्रति अपरशब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वात् शाब्दसामान्यानुपपत्तिरेव तदा अनुभूयमान संशयोत्पत्तिः कथमिति चेत् “संशयस्तु मानस एव” इत्याह।

वैशेषिकाचार्यास्तावत् विद्याविद्याभेदेन बुद्धेः भेदद्वयं मन्यन्ते।<sup>५</sup> अविद्यायाश्चत्वारो भेदाः। (१) संशयः (२) विपर्ययः (३) अनध्यवसायः (४) स्वप्नश्च।

संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रा दर्शनादुभयविशेषानुस्मरणाद-धर्माच्च किंस्विदित्युभयावलम्बी विमर्शः संशयः।<sup>६</sup>

अयम्भावः प्रसिद्धाः पूर्वं प्रतीताः अनेकविशेषाः असाधारणधर्मा वक्रकोटरादयः शिरः पाण्यादयश्च ययोः स स्थाणुपुरुषयोस्तयोः सादृश्यमात्रास्य साधारणधर्ममात्रास्य कचिदेकत्राधर्मिणि दर्शनात् उभयोः स्थाणुपुरुषयोर्विशेषाणां वक्रकोटरादीनां शिरः

पाण्यादीनां पूर्वं प्रतीतानां स्मरणादधर्माच्च किंस्वदिति उभयावलम्बी विमर्शः संशयः। किं स्थाणुः? किं वा पुरुषः? इति अनवस्थितोभयरूपेण उभयविशेषसंस्पर्शी विमर्शः विरुद्धावमर्शो ज्ञानविशेषः संशयः।

मात्रग्रहणसामर्थ्यात् विशेषाणामनुपलम्भोगे गम्यते। दर्शनशब्दः उपलब्धिवचनो न प्रत्यक्षप्रतीतिवचनो नुमेयस्यापि सामान्यस्य हेतुत्वात्। सादृश्योपलम्भाभिधाना-  
हर्म्युपलम्भोपि लभ्यते। अस्यानुपलम्भेः तद्धर्मस्य सादृश्यस्योपलम्भाभावात् संशयोपि धर्मिण्येव, न सादृश्ये, तस्य निश्चितत्वात्। सादृश्यमिति च साधारणधर्ममात्रां कथ्यते, नानेकार्थसमवेतं सादृश्यम्, अस्पर्शवत्त्वस्य स्पर्शाभावस्याकाशान्तः करणगतस्य प्रतीत्यात्मन्यणुत्वमहत्वसंशयदर्शनात्।

यदा अयं प्रतिपत्तोभयसाधारणं धर्मं कचिदेकत्रा धर्मिणि उपलभ्यते, कुतश्चिन्निमित्तात् तस्य धर्मिणो विशेषं नोपलभ्यते, पूर्वं प्रतीतयोः स्मरति विरुद्धविशेषयोः, न च उभयोरेकत्रा सम्भवति सद्भावं, विरुद्धत्वात्। नाप्यभावं तदविनाभूतस्य साधारणधर्मस्य दर्शनात्। तदा अस्य साधारणधर्मविषयत्वेनावधारिते धर्मिणि विशेषविषयत्वेन अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयो भवति।

संशयः अविद्या एव।<sup>९</sup> अविद्या पुरुषं नश्यति। अतएवोक्तं संशयः अधर्मादुत्पद्यते। सामान्यं दृष्ट्वा यदेकं विशेषमनुसृत्य विशेषमनुस्मरति तदा सामान्यदर्शनस्य विनष्टत्वात् संशयहेतुत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, उभयविशेषविषयाभ्यां संस्काराभ्यां युगपत्प्रबुद्धाभ्यामु-  
भयविशेषविषयैकस्मरणजननात्, तत्काले च विनश्यदवस्थस्य सामान्यज्ञानस्य सत्त्वात्।

स च संशयः द्विविधः। अन्तर्बहिश्च।<sup>१०</sup> अन्तस्तावत् आदेशिकस्य सम्यङ्मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु संशयो भवति “किन्तु सम्यङ्मिथ्या वा” इति।

आदेशिको ज्योतिर्विदपदवाच्यः। तेन ज्योतिर्विदा एकदा कस्यचित् पुरुषं तद्ग्रहसंचारादिनिमित्तमुपलभ्य आदिष्टं किञ्चिदनिष्टं किञ्चिदिष्टं वा अत्रा अभूत्, वर्तते भविष्यति च तत् तथैव तदा संवृत्तम्। पुनश्च तादृश एव निमित्तानि उपस्थितानि। तानि दृष्ट्वा तदादेशिकस्य ज्योतिर्विदः पुरुषस्य स्वज्ञाने संशयो जायते यत् एतन्मम नैमित्तिकं ज्ञानमभूत् तत्किं सत्यमसत्यं वा?<sup>११</sup>

बहिः संशयो द्विविधः-(१) प्रत्यक्षात्मकः (२) अप्रत्यक्षात्मकश्च।<sup>१०</sup> यत्र साधारणलिङ्गदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणाद् अधर्माच्च संशयो भवति तदप्रत्यक्षात्मकः। यथा-अरण्ये विषाणमात्रादर्शनात् अयं गौर्गवयो वा इति संशयः।

प्रत्यक्षात्मकश्च संशयः यथा- स्थाणुपुरुषयोः सम्बन्धिनी योर्ध्वता तन्मात्रास्य प्रत्यक्षविषये पुरोवर्तिनि ध्रुवमणि दर्शनात् भवति। वक्रकोटरादेः स्थाणुधर्मस्य शिरः पाण्यादेर्विशेषस्य पुरुषधर्मस्यानुपलब्धितः। स्थाणुत्वादिसामान्य विशेषानभिव्यक्ता- वित्यादिपदेन पुरुषत्वाद्यवरोधः। वक्रकोटरादयः स्थाणुत्वाभिव्यक्तिहेतवः, शिरः पाण्यादयः पुरुषत्वाभिव्यक्ति हेतवः, तेषामनुपलम्भात्। स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरन भिव्यक्तौ सत्यामुभयोः स्थाणुपुरुषयोः प्रत्येकमुपलब्धानां विशेषाणामनुस्मरणा- दुभयत्रावृफष्यमाणस्य उभयत्रा स्थाणौ पुरुषे वा आवृफष्यमाणस्य प्रतिपत्तुः यत् ऊर्ध्वता दर्शनात् स्थाणुरयमिति निश्चेतुमिच्छति तदा पुरुषविशेषानुस्मरणेन पुरुषे समावृफष्यत इत्युभयत्रावृफष्यमाणः अत एवास्य प्रत्ययो दोलायते, नैकत्रा नियमेन अवतिष्ठते-द्वफकिन्तु खत्वयं स्थाणुः स्यात् पुरुषो वेति”।<sup>११</sup>

वैशेषिकदर्शनकारः कणादः संशयस्वरूपमिथं निगदति। तथा च सूत्राम् “सामान्य प्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः”<sup>१२</sup> सामान्यवतो धर्मिणः प्रत्यक्षात् विशेषस्य परस्परव्यावर्तकस्य धर्मस्य वक्रकोटरादेः शिरः पाण्यादेश्चाप्रत्यक्षादग्रहणात्। विशेषस्मृतेः विशेषस्य कोटिद्वयस्य स्थाणुत्वपुरुषत्वलक्षणस्य स्मरणात्।

अत्रा स्मरणमपि ग्रहणपरम्।<sup>१३</sup> क्वचिदनुभूयमानधर्मयोरपि कोटित्वात्, चकारात् अदृष्टादेः संशयकारणस्य संग्रहात्।

ननु सामान्यधर्म एव तत्तदभावसमानाधिकरण इति तत्तद्धर्मिणो एकतरानिश्चायकत्वात् संशयहेतुत्वं युक्तम्-द्वअसामारणस्य तु तत्तदभावव्यावृत्तरूपस्य साधारणत्वाभावात् कथं संशयजनकता इत्याशंक्य प्राचीनमताभिप्रायेण निराकरोति<sup>१४</sup> - “असाधारणोधर्मो नध्य- वसायात्मकज्ञानजनक इति नोक्तः।<sup>१५</sup> तत्र समाधात्ते - असामारणधर्मोऽपि एकसम्बन्धिज्ञानमपरं स्मारयति इति नियमेन व्यावृत्तत्वसम्बन्धज्ञानद्वारा तत्तदभावरूपकोटिद्वयं स्मारयन् कोटिद्वयज्ञानसम्पादनद्वारा संशये प्रयोजकमिति एतन्मते संशयातिरिक्त अनध्यवसायात्मकज्ञानस्यासत्त्वेपि न क्षतिः।<sup>१६</sup> विप्रतिपत्तिरपि विरुद्धप्रतिपत्तिद्वयजन्यं वाक्यद्वयं शब्दो नित्य इत्यपरं तदुभयं, तदुभयजन्यञ्च ज्ञानद्वयमयुगपद् भावित्वात्। सम्भूय न संशायकमतस्तत्रा शब्दत्वादिरसाधारणः सत्वप्रमेयत्वादि साधारणो वा धर्मः संशयः इति पृथङ्गनोक्ताः।<sup>१७</sup>

समानतन्त्रो गौतमीये अनध्यवसायज्ञानस्यानभ्युपगमात् असाधारणो धर्मः संशयकरणत्वेन उक्तः। विप्रतिपत्तेर्विरुद्धवाक्यद्वयस्य अन्वयव्यतिरेकशालितया

संशयकारणत्वमुक्तम्। न्यायभाष्ये च उपलभ्यमानत्वं यत् संशयकारणत्वमुक्तं सदप्युपलभ्यते असदप्युपलभ्यते इति उपलभ्यमानमिदं सदसद्वेति, यच्चानुपलभ्यमानत्वं सदपि नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असदपि नोपलभ्यते गगनारविन्दादिः तथा च पञ्चविधः संशयः<sup>१८</sup> इति।

न्यायवार्तिकेऽपि यत्कारणभेदेन संशयस्य त्रित्वमुक्तं तदपि न सम्भवति, व्यभिचारेण समानधर्मादीनां त्रायाणां कारणत्वस्यैवासम्भवात्।<sup>१९</sup> न हि तृणारणिमणिजन्यवह्नौ वैजात्यवदत्रापि वैजात्यं कल्पनीयम्- संशयत्वावच्छिन्नं कार्यं प्रति समानधर्मत्वेनैव कारणतायाः कल्पनात्। यच्च प्रधानविधिकोटित्वप्रधाननिषेधकोटित्वादि वैजात्यमुक्तम्, तदनुगतत्वान्नावच्छेदकम्।<sup>२०</sup> तथा च संशयो न त्रिविधः न वा पविधः किन्त्वेकविधः<sup>२१</sup> एव। प्रकारान्तरेण संशयस्य द्वैविध्यं सूत्रावृफता कणादेन स्वयमेव स्पष्टयति।

ननु जिज्ञासा जनकज्ञानं संशय इति न लक्षणम्, अनध्यवसायेपि गतत्वात्। संस्काराजनकज्ञानं संशय इत्यपि निर्विकल्पकसाधारणं विशिष्टाज्ञानत्वेन संशयस्यापि संस्कारजनकत्वात्। संशयत्वञ्च जातिरपि न लक्षणं धर्म्यशे<sup>२२</sup> संशयत्वाभावेन तदंशे तज्जात्यभावात् जातेश्चाव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमादिति चेत् एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिनानाप्रकारकं ज्ञानं संशयः<sup>२३</sup> इति लक्षणात्। संशयो द्विविधः बहिर्विषयकः अन्तर्विषयकश्च।<sup>२४</sup> बहिर्विषयकोपि द्विविधः-दृश्यमानधर्मिकः अदृश्यमानधर्मिकश्च। तत्रा दृश्यमानधर्मिको यथा ऊर्ध्वत्व- विशिष्टस्य धर्मिणो दर्शनात् अयं स्थाणुः पुरुषो वा इति। अदृश्यमानधर्मिको यथा-गोगवयादिपिण्डे विषाणमात्रादर्शनात् अयं गौर्गवयो वेति। वस्तुतस्तत्रापि विषाणधर्मिक एव संदेहो विषाणमिदं गोसम्बन्धि गवयसम्बन्धि वा ? विवक्षामात्रात्<sup>२५</sup> द्वैविध्याभिधानम्। यत्सामान्यं संशये हेतुस्तदनेकत्रा दृष्टं संशायकमेकत्रा धर्मिणि वा दृष्टं संशयहेतुरित्यत्रा प्रथमां विधामाह-“दृष्टञ्च दृष्टवत्”।<sup>२६</sup>

दृष्टमूर्ध्वत्वं संशयहेतुः। दृष्टवदिति वति प्रत्ययः तेन दृष्टाभ्यां स्थाणुपुरुषाभ्यां तुल्यं वर्तते पुरोवर्तिनि यदूर्ध्वत्वं तद्दृष्टं संशयहेतुः।

एकधर्मिविषयं यद्दृष्टं तदुदाहरति-“यथा दृष्टमयथादृष्टत्वाच्च”<sup>२७</sup> संशय हेतुरित्यर्थः। चकारः समुच्चयार्थः। अयथादृष्टत्वाद्धेतोर्यथादृष्टमपि संशायकम्। यथा-चैत्रो दृष्टः केशवान्, कालान्तरे अयथादृष्टः केशविनावृफतो दृष्टः। क्रमेण तत्रैव चैत्रो वस्त्रावृतमस्तकेदृष्टे सति भवति संशयश्चैत्रोयं सकेशो निष्केशो वेति। तत्रा हि चैत्रात्वं समानो धर्मः संशायकः स च एकत्रैव दृष्ट इत्यभिन्न एव धर्मिणि दृष्टः संशयहेतुः।



उपलभ्यमानत्वं समानमेव धर्मं संशयकारणमाह- “विद्याविद्यातश्च संशयः”<sup>२८</sup> संशयो हि विद्याविद्याभ्यां भवति। यथा-द्धमौहूर्तिकः सम्यगादिशति चन्द्रोपरागादि, असम्यगपि। तत्रा स्वज्ञाने संशयोऽस्य जायते सम्यगादिष्टमसम्यग्वा? यद्वा ज्ञानं हि क्वचिद् विद्या भवति क्वचिच्चाविद्या अप्रमा भवति। तथा च ज्ञायमानत्वात् इदं सद्-द्धअसद् वा इति संशयो जायते। पुनः संशयग्रहणमिहापि सामान्यप्रत्यक्षादेव संशयो न तु निमित्तान्तरादिति सूचनार्थम्। तथा च “समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः”<sup>२९</sup> इति गौतमीये लक्षणे उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थेत्यस्य पृथगेव संशयकारणत्वं यदुक्तं<sup>३०</sup> तन्निरस्तम्।

महर्षि गौतमेन षोडशपदार्थेषु मध्ये प्रमाणप्रमेयानन्तरं संशयस्य गणनां वृफत्वा एतस्य पर्याप्तप्रमुखता प्रदत्ता। भगवता वात्स्यायनेन उक्तं यत् संशयः न्यायस्यार्घ्यभूतः। न्यायञ्च अननुभूते अनिर्णीते च प्रवर्तते। इत्थं भारतीयनैयायिकानामिदं मतं डेकार्ट सिद्धान्तानुसारमेव यत् दर्शनस्याविर्भावः संशयाज्जायते। भारतेऽपि फवादे-वादे जायते तत्त्वबोधः<sup>३१</sup> इति या धारणा, अस्यां धारणायामपि संशय एव। शुद्धचिन्तनं दृष्ट्येयं जिज्ञासापि कथ्यते। इदं नावश्यकं यत् यद्वस्तुविषये संशयः तत्परिणामेऽपि संशयः स्यात्। वस्तुतः संशयस्य सत्ता तावता कालेन भवति यावद्विशेषं नोपलभ्यते। गौतमानुसारेण समानधर्मोपलब्धितः, अनेकधर्मोपलब्धितः, विप्रतिपत्तितः, उपलब्ध्यव्यवस्थातः, अनुपलब्धि अव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षा विमर्शः संशयः। तथा च सूत्राम्-द्धसमानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।<sup>३२</sup>

(१)समानधर्मोपपत्तिमूलकः संशयः- स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिहाणौ पश्यन् पूर्वदृष्टञ्च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यनन्तरं नावधारयति तदनवधारणं ज्ञानं संशयः। “समानमनयोर्धर्ममुपलभे विशेषमन्यतरस्य नोपलभे”<sup>३३</sup> इत्येषा बुद्धिरपेक्षा संशयस्य प्रवर्तिका तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

(२)अनेकधर्मोपपत्तिमूलकसंशयः-द्धसमानजातीयमसमानजातीयानेकं तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः। अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्म चेति संशयः। अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे इति।<sup>३४</sup>

(३)विप्रतिपत्तिमूलकः संशयः- अस्त्यात्मा इत्येकं दर्शनं नास्त्यात्मा इत्यपरम्। न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्रा सम्भवतः। न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते तत्रतत्त्वानवधारणं संशयः।<sup>३५</sup>

(४) उपलब्ध्यव्यवस्थामूलकः संशयः- सदप्युदकं तडागादिषूपलभ्यते असदप्युदकं मरीचिषूपलभ्यते।<sup>३५</sup> तथा च सदेवोपलभ्यते इति नियमो नास्ति किन्त्वसदपि प्रतीयते यथा शुक्तिरजतम् इत्येषोपलब्ध्यव्यवस्था। अतः क्वचिदुपलभ्यमाने जलादौ सत्त्वासत्त्वयोर्व्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धौ सत्त्वासत्त्वयोरन्यतरस्य निश्चयासम्भवात् संशयो जायते।

(५) अनुपलब्ध्यव्यवस्थामूलकः संशयः- नियमाभावादपि “किं सन्नोपलभ्यते उत असन्नोपलभ्यते”<sup>३६</sup> इति संशयो भवति। यथा-अन्तःप्रविष्ट कीलकमूलमुदकं च असदपि नोपलभ्यते यथानुत्पन्नं निरुद्धं मूलकीलकोदकादि तथा असद् एवानुपलब्धिर्भवतीति नियमो नास्ति-द्धकिन्तु सतोप्यावृत्तस्यानुपलब्धिर्भवति इत्येषानुपलब्ध्यव्यवस्था ततश्च क्वचिदनुपलभ्यमाने सत्त्वासत्त्वयोरन्यतरस्य व्यवस्थापकाप्रमाणानुपलब्धौ निश्चयाभावात् संशयो जायते, यदिदं न प्रतीयते तत् सद्वासद्वा इति।

संशयस्य पञ्चसु भेदेषु अन्तिमौ द्वौ समानधर्मोपपत्तिमूलके संशये<sup>३७</sup> एवान्तर्भूतौ इति उद्योतकराणामाशयः। वैशेषिकानुसारेण प्रथमे संशये एव सर्वेषामन्तर्भावः।<sup>३८</sup> केशवमिश्रोऽपि अन्तिमयोः द्वयोः संशययोः गणना न कृतवानिति।<sup>३९</sup>

सन्दर्भग्रन्थाः —

1. कारिकावली- का. सं. 130
2. न्यायसूत्राम् 1/1/23
3. किरणावली टीका-का. सं. 130
4. मुक्तावली टीका
5. प्रशस्तपादभाष्यम्।
6. तदेव।
7. न्यायकन्दली, पृ. 421, सं. सं. वि. वि. प्रकाशिता-1977
8. पदार्थधर्मसंग्रहे, पृ. 412-द्धसं. सं. वि. वि. प्रकाशिता-1977
9. न्यायकन्दली।
10. प्रशस्तपादभाष्यम्।
11. प्रशस्तपादभाष्यम्।
12. वैशे. सू. 2/2/17।
13. वैशेषिकसूत्रोपस्कार-ग्रहणपरं ज्ञानपरमित्यर्थः।
14. उपस्कारटिप्पणी, पृ. 75।
15. उपस्कारटीका-शंकरमिश्रः।
16. तदेव।

17. उपस्कारटिप्पणी।
18. न्यायभाष्यम्।
19. न्यायवार्तिकम्।
20. तादृशवैजात्यं कार्यतावच्छेदके न भवति सकलकार्याव्यापकत्वात्। उपस्कार टिप्पणी  
उ. टी. 77
21. न्यासूत्रोपस्कारः पृ. 77
22. वह्न्यंशे संशयात्मकस्यापि पर्वतांशे निश्चयात्मकस्यैव पर्वतो वह्निमानवेति  
संशयस्यस्वीकारात्। उ. टी. - 77
23. न्यायसूत्रोपस्कारः सू. सं. 2/2/17
24. वै. सू. उपस्कार-प्रस्तावना सू. सं. 18
25. विषाणमात्रादर्शनोत्तरसंदेहस्य दृश्यमानधर्मिकत्वेपि गोवलिर्वदन्यायेन विषाणधर्मिकान्य-  
दृश्यमानधर्मिकत्वं तदन्यदृश्यमानधर्मिकत्वेति कौचिद्धर्मावाश्रित्य विभाजकेच्छामात्रेण  
द्विधोक्तिर्बहिर्विषयस्य संशयस्येत्यर्थः - न्यायसूत्रोपस्कारटिप्पणी।
26. वैशे. सू. 2/2/18
27. वै. सू. 2/2/19
28. कणादसू. 2/2/20
29. न्या. सू. 1/1/23
30. भाष्यकारेण वात्स्यायनेनोक्तम्
31. न्या. सू. 1/1/23
32. न्या. भा. सू. 1/1/23
33. वात्स्यायनभा. 1/1/23
34. तदेव
35. न्याय. भा. प्रसन्नपदाटीका
36. न्यायभाष्यम्
37. उद्योतकरः
38. वैशे. सू. 2/2, 17-20
39. तर्कभाषा

## मार्कण्डेयपुराणोक्त श्री दुर्गासप्तशती प्रकरणस्य

वीरेन्द्र कुमार

अद्वितीया खालु भारतीयमनीषायां शक्ति तत्त्वकल्पना। सृष्टिसमारभकालादेव परमोशिवः शिवशक्तिरूपेण तत्त्वद्वयेऽऽत्मानं प्रकटयामास। विधिरूपोशिवः निषेधरूपा च शक्तिः एतयोरेव विधिनिषेध रूपयोः शिवशक्त्योः स्पन्दविस्पन्देनैव सर्वं खल्विदं दृश्यमानं जगत् सत्तामनुभवति। तन्त्रशास्त्रे दृशा औपनिषद्दृशा चेदं पिण्डरूपं मानवशरीरं विश्वव्यापिनः ब्रह्माण्डस्यैव प्रतिरूपम्। पिण्डेऽस्मिन् शिवतत्त्वप्राधान्ये पुरुषरूपाविर्भावनम् शक्तितत्त्वस्य वैशिष्ट्ये नारीरूपाभिव्यक्तिः सहजतया भवति। सूक्ष्मतत्त्व विमर्शेणेदं भवति सुस्पष्टं यत् पुरुषस्य स्त्रियाश्चेदं सनातनं स्वरूपं अस्थित्वगमांसादीनामेव न पार्थिवं पिण्डमपितु विश्व व्यापिनोः शिवशक्त्योश्चैवायतनम् शक्तितत्त्वं मातृरूपं शिवतत्त्वं च पितृरूपाधायकम् – “जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ”<sup>१</sup> इति कालिदासवचनात्।

शक्तितत्त्वं नार्यपरपर्यायरूपम्। नारी च निषेध रूपेत्युक्तं प्राक्। निषेधरूपेत्यस्याशयः निःशेषत आत्मस्वरूपस्य परस्मै उत्सर्गकर्त्री। इत्थं यत्रफुत्रचिदपियस्मै उत्सर्गः समर्पणभावः तत्रैव प्रकटनं नारीतत्त्वस्येति निश्चप्रचम्। तस्याश्चैयमेव मातृरूपता – “या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता”<sup>२</sup> इति वचनात्। अत्र केवलं दानमेव दृश्यते न प्रतिदानाकाङ्क्षा। उत्सर्ग एवं तद्धर्मः समर्पणं तत्सवभावः सेवनं तत्कर्म निषेधरूपा च तत्प्रकृतिः।

**शक्तितत्त्वविमर्शः** – शास्त्रेषु शक्तिशब्दः सन्दर्भदृशा विभिन्नार्थकः। तन्त्रशास्त्रे सेयं पराशक्तिः। वेदोपनिषत्सु पुराणादिष्वपि च शक्तिपदप्रयोगः देवी, पराशक्तिः, ईश्वरी मूलप्रकृतिरित्यादिभि नामभिः विज्ञानानन्दधन निर्गुणसगुणब्रह्माभिधीयते। एकस्यैव परमात्मतत्त्वस्य निर्गुण-निराकार सगुण साकार ब्रह्माविष्णु-महेश-रामकृष्णाधनेक नामरूपेण भजन्ते भक्ताः। निर्विशेष शुद्धस्वरूपाखिल ब्रह्माण्डस्याधारभूतः। तदेव पुंस्त्वदृशा चिन्नाम्ना स्त्रीत्वदृशा च चित्तिनाम्ना। गीयते। शुद्धचैतन्यं शुद्धा चित्तिश्चैकस्यैव तत्त्वस्य रूपद्वयम्। उदाहरणतः – अग्नेहहिकता भानोश्चप्रभा यथाकृशानोः भानोश्चाभिन्नरूपा तथैव मायात्मिका पराशक्तिः परब्रह्मरूपैव न पृथक्। जगतः

---

अनुसन्धाता, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

निमित्तविवर्तोपादानकारणाभ्यां सच्चिदानन्द परब्रह्मणः नैसर्गिकी पराशक्तिः ईश्वरी भगवती रूपाऽस्ति। ब्रह्माणः औपाधिक स्वरूपरूपाः यथा शिव ब्रह्मा विष्णु प्रभृतयः तथेवादिशक्तेरौपाधिका स्वरूपाः। पार्वती लक्ष्मी काली सरस्वती प्रभृतयः। सेयं शक्तिः माया प्रकृति इत्यादिभिः शब्दैरनेकधा विवेचिताऽस्ति। शक्तिश्चेयं नित्या सर्वात्मिका फलतः दिग्देशकालादिभिरपरिच्छिन्ना। एषैव पराशक्तिः त्रिगुणात्मिका त्रिधामनिवासिनी, मात्रिकारूपिणी आत्मशक्तिः कुण्डलिनी प्रकृति विकृतिरूपा सकल देहिनां वाग्व्यापारोत्पादिनी, माया, महामाया, योगमायाद्यनेकरूपैः रमराधिपानामपि, उत्पत्तिकारणभूता अनन्त कोटिब्रह्माण्डनयिका ललिताम्बा श्रीविद्याः सत् असत् सदसद्विलक्षण अतएवनिर्वचनीया-

प्रत्येकं सत्त्वसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।

गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्त वादिनः॥<sup>३</sup>

शब्दनां जननी त्वमेव भुवने वाग्वदिनीत्युच्यसे

त्वत्तः। वासव केशव प्रभृतयो आविर्भवन्ति ध्रुवम्।

लीयन्ते खलुयत्रकल्पविरमे ब्रह्मादयोतेप्यमी,

सा त्वं काचिदनत्यरूपमहिमा शक्तिः परा गीयते॥<sup>४</sup>

वेदेषु शक्ति तत्त्वम्:- “मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे” इत्येव विद्येन वेदवाक्येनेदं ज्ञायते यत् तत् परब्रह्मतत्त्वमेव पराम्बा रूपेणात्मानं प्रकटयति यथाहि-

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विवूब देवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहंमिन्द्राम्नी अहमश्विनोभा॥<sup>५</sup>

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वणटारमुत पूषणं भगम्।

अहं दधाभि द्रविणं हविष्यते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥<sup>६</sup>

पराम उद्घोषयति - अहं रुदाय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा ड। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं धावापृथिवी आविवेश।<sup>७</sup>

इत्थं भवति सुस्पष्टं यत् परब्रह्मैव लोकानुग्रहाधिया मातृशक्तिरूपेणात्मानं मुपस्थात्य अनुकम्पां वितरति।

**पुराणेषु शक्तितत्त्वम् :-** सैषा वेदेषु माहात्मययुता मातृशक्तिः पुराणेषु महाशक्तिरूपेण प्रतिष्ठिताऽस्ति। एतयैव महाशक्तया शक्तिसम्पन्नो मुख्यतः मार्कण्डेयपुराणान्तर्गते सावर्णिके मन्वन्तरे वर्णिते देवी माहात्म्ये महाशक्तिरूपायाः भगवत्याः पराम्बायाः

स्वरूपवर्णनं विशदरूपेण विहितमस्ति चर्कति लोकं विद्याताबर्भर्तिविष्णुः जर्हति च शिवः।  
सेयमादिनारायणी शक्तिरेव नवदुर्गा, दशविद्या, महाविद्यारूपे च प्रतिष्ठिताऽस्ति। सर्वाश्च  
स्त्रियः लोके अस्या एव स्वरूपवत्य-

विद्याः समस्त देवि भेदाः।

स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

त्वयैकया पूरितमम्बयैयत्

का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥<sup>६</sup>

सर्वं मिदं जगत् तस्या शक्तिरेव क्रीडास्थली- शक्तिक्रीडा जगत्सर्वम्। अतएवादिशक्तिः  
स्वयमद्भोषयति-

सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।<sup>६</sup> एवमेव दुर्गासप्तशती ग्रन्थेऽपि-एकैवाहं  
जगत्सर्वं द्वितीया का ममापरा।<sup>१०</sup> भगवती पराम्बा काले-काले समवतीर्थं रक्षति लोकम्।  
यथाहि सा स्वयं मेवाद्भोषयति-

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।

तदा-तावतीर्याहं करिष्यामि संक्षयम्॥<sup>११</sup>

सेयं भगवती महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती रूपेणावतीर्थं जीवनस्थमहंकारं  
विनाशयति, पार्वती रूपा सा शिवस्यार्धाङ्गीनी रूपासती कृपा शक्तिं तनोति। कदाचित्  
शताक्षी कदाचित् रक्तदन्तिका कदाचिच्च भीमरूपा सा। एतत्सर्वं तस्या एव लीलाविग्रहः।

मार्केण्डेय पुराणस्था कवचार्गलाकीलकादियुक्ता दुर्गासप्तशती। यथा नाम्नैव प्रथिता  
सप्तशतश्लोकेषु प्राणिनां भक्तजनानां च दुर्गतिनाशिनीयं जननी त्रिषु चरित्रेषु व्यवस्थिता-  
अस्ति। प्रथमं देवीकवचस्य प्रथम चरित्रस्य च देवता क्रमशः महाकाली ऋषिर्ब्रह्मार्विष्णुः  
कीलकोत्तरचरितस्य च देवता महालक्ष्मी ऋषिर्विष्णुः कीलकोत्तरचरित्रस्य च देवता  
महासरस्वती ऋषिः शिवो रुद्रश्च। एतेननेदं ज्ञातव्यं यत् कवचम् इत्यस्य योगः केवलं  
प्रथमचरित्रेणैव अर्गला इत्यस्य मध्यमचरित्रेणैव, कीलकस्य च सम्बन्धाः  
केवलमुत्तरचरित्रेणैव। वस्तुतः यथा क्रमबद्धः विकासः कवचार्गलाकीलकानां पूर्वापरप्रक्रमे  
वर्तते तदेव प्रथममध्यमोत्तर चरित्राणां पूर्वापरप्रक्रमोऽस्ति। अत्रत्यः प्रथमचरित्रस्य विषयः  
महीयान् खलु वर्तते। तत्र स्वरोचिषमन्वन्तरे चैत्रवंशीय सुरथोनाम धार्मिकः राजाऽउसीत्।  
एकदा शत्रुभिः पराभूतऽसौ सुरथः वनं शरणीकृतवान्। तत्र सुमेधा मुनेः तादृशं आश्रमं ददर्श  
यत्र मुनेः तपसः प्रभावेण तत्रत्याः हिंसकाः जीवाः हिंसावृत्तिं परिहाय मिथाः सौहार्दपूर्णं

भावेन निवसन्ति सम। अनुशासने एद्यमानाः शिष्याः आश्रमशोभां वर्धयन्ति स्म। तस्मिन् आश्रमे आगतस्यास्य राज्ञः मुनिवरेण सुभाषितेन आसनेन पाद्येन भोजनेन सत्कारः कृतः तत्रैवकदाचित् विचरन् स नृपः अचिन्तय् यन्नगरं मत्पूवेजैः पूर्वपालितं तदेव मयाहीनं असद्वृत्तैर् मद्भृत्यैः कथं पाल्यते। ये ममानुचरा नित्यं प्रसादं धनभोजनैः ममानुवृत्तिं कुर्वन्तिस्म तेऽध अस्माकं शत्रु महीभृताम् अनुवृत्तिं करिष्यन्ति एतत्सर्वं चिन्तयन् स सुरथः तत्राश्रम समीपे वैश्यमेकं ददर्श। वैश्योऽपि दुर्भाग्यवशात् इमामेवदशां प्राप्तः। उभयोः पीडां निशम्य समां स्थितिं च समक्लोक्य ऋषिणात्र बोधनं कृतम् यत् -

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे॥<sup>१२</sup>

विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक्-पृथक्।

दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे॥<sup>१३</sup>

केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ।

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किं तु ते न हि केवलम्॥<sup>१४</sup>

महामाया प्रभावेण संसारस्थितिकारिणा॥

तत्रात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्राजगत्पते॥<sup>१५</sup>

सा विद्या परमामुक्ते हेतुभूता सनातनी॥<sup>१६</sup>

संसार बन्धु हेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥<sup>१७</sup>

कास्ति महामाया ? किं च स्वरूपं तस्याः इत्येवं जिज्ञासिते सति ऋषिः पुनरकथयत् यत् यदाकल्चान्ते विष्णुः एकार्णवीकृतेजगति योगनिद्रामास्तीर्य शेषशायी जातः तदा द्वावसुरो घोरौ प्रजापतिः ब्रह्म प्रसुप्तं जनार्दनं विबोधनार्थाय हरिनेत्रकृतालयां योगनिद्रामित्थं तृष्टाव।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता॥

यथा त्वया ..... नीयतामच्युतोलघु॥<sup>१८</sup>

एतया स्तुत्या तमोगुणधिष्ठात्री भगवती योगनिद्रा विष्णोः नेत्रास्यनासिका बाहुहृदयेभ्यः उरसश्च निर्गम्य अव्यक्तजन्मनः ब्रह्मणः दर्शने तस्थौ। योगनिद्रया समुत्थितः जनार्दनः मधुकैट भनामानौ तावसुरौ ददृशे। तौ दुरात्मानावतिवीर्यपराक्रमौ ब्रह्माणं प्रजापतिं जनितोद्धमो आस्ताम्। भगवान् श्रीहरिः ताम्यां पञ्चवर्ष सहस्राणि बाहुप्रहरणो युयुधे। महामा विमोहितौ तौ अतिबलोन्मत्तौ हरिं उक्तवन्तौ यत् असमत्तौ वरं त्रियताम्। हरिणाप्युक्ततम् -

भवेतामद्य में तुष्टौ मम वाध्यावुभावपि।

किमन्येन वरेणात्र उतावृद्धि वृतं मम॥<sup>१६</sup>  
ताभ्यामपि सर्वमापोमयं जगत् दृष्ट्वा कथितं यत्  
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता॥<sup>१७</sup>

तथेत्युक्त्वा शंखचक्रगदाभृता जनार्दनेन स्वकीय जघने तयोः शिरसी चक्रेण छिन्नेकृते। मध्यमे चरित्रे देवानां तेजसः आविर्भूतायाः देव्याः स्वरूपवर्णनेन तथा च महिषासुरस्य सेनया समं तस्यवधवर्णनमनन्तरंमिन्द्रादिदेवैः कृतास्तुतिः प्रमुखरूपेण प्रस्तीकृताऽस्ति। अत्रमहिषासुरः देव्याः सत्तामेवाभिजानति न तस्याः वास्तविकं स्वरूपमतएव यदा देवी गर्जनां कृतवती तदा चचाल वसुधा चेलुः सकलाश्चमहीधराः दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यममरारयः - आः किमेददिति क्रोधादाभाष्य महिषासुरः। अभ्यधावत तं शब्दमशेषैरसुरैर्वृतः ...<sup>१९</sup>

स ददर्श ततो देवीं व्याप्त लोकत्रयां त्विणा।

पादाक्रान्त्या नवभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम्॥<sup>२०</sup>

क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्या निःस्वनेनताम्॥<sup>२१</sup>

अत्र कीदृशः संघर्ष कथं च महिषासुरस्य मायमा स्वरूप परिवर्तनेऽपि विनाशः भगवत्या इत्यति विशदरूपेणवर्णितमस्ति।

वस्तुतः अस्माकमन्तःकरणे या कामक्रोधादिरूपा आसुरी प्रवृत्तिः वर्तते तस्याः कुप्रभावेण लोकः इष्टेन वार्यते अनिष्टेन च योज्यते तस्य विनाशः कथं करणीय तेन विनाशेन आत्मानात्म विवेचनं कथं भवति? आत्माक्बोधनेन च लोकः इष्टं प्राप्तं कथं प्रवर्तते इत्यस्ति अत्रत्यं प्रतिपाद्यम्। साधकस्य भक्तस्य भक्तिमार्गं यानि कामक्रोधादिरूपाणिविघ्नानि समापतन्ति तैश्च भक्तः लक्ष्यं प्राप्तं असमर्थः भवति इति विद्या अर्गला एतादृशान् शत्रून् विनाश्य लक्षं प्राप्त अग्रेसारयति लोकम्।

उत्तर चरित्रे शुम्भनिशुम्भावसुरौ न केवलं देव्याः सत्तया अपितु रूपलावण्येनापि अवगतौस्त किन्तु अहं भाव भरितत्वात् देवीमेवापहर्तुं तां च आत्मसात्कर्तुं उपक्रमं कुर्वति फलतः पराभवं प्राप्नुतः हर्षं चानुभवति लोकः अत्रत्यं कीकमपि हर्षावाप्तये सेतुरिव दृश्यते उत्साहं च वर्धयति साधकस्य।

वास्तविकता त्वियंमेवास्ति यद् भक्तः साधको वा यत् किमपि उपभुंक्ते तत् यज्ञशिष्ट प्रसादएवं भवति स यत् किमपिकुरुते तस्य सर्वोप्याचारः व्यवहारो वा भगवत्याः तानि तानि रूपाणि प्रतिव्यवहृतत्वात् देव्याराधनादृते नान्यत् किमपि।



निष्कर्षतः कवचे महाकाल्याः महामायायाः विष्णोः योगनिदायाः तुष्ट्यै याचना विहिताऽस्ति। या आत्मजागर्ति समुत्पाद्य निखिलमपिपारवश्यं दूरीकृत्य चराचर जगदिदं स्वभक्तस्य नियन्त्रणे विद्याति कवच पाठेसाधकः स्वस्मिन् आत्मावयवेषु च देव्याः विविधानि रूपाणि भावयति समारोपयति च। यथाहि शिखायामुद्योतिनी देवी, ललाटे चोमादेवी त्यादयः सर्वदा सर्वकोलेषु भक्तान् रक्षति। सहजे श्वासमात्रे असुरसंहारकारिणी भगवती अघटित घटना पटीयसी माया “निमित्त मात्रं भव” मर्यादया नानाविद्यानायुधान् धारयन्ती दैत्यान् नाशयति भक्तान् अभयं ददाति देवानां च हितं साध्यति। भगवत्याः रणरंगधीराः निष्ठुरभावभरिताकृपामूर्तिः तद्दर्शनार्थिजनान् साधकांश्च अहिंसा दृष्ट्या आह्लादयति

अर्गला इत्यत्र महालक्ष्मीरूपायाः प्रसन्नतायाः याचनाऽस्ति। तत्र भगवती देहादिचिच्छायां साक्षिणश्च संघातं विविच्य मोहविजयं ज्ञानावासि दाक्षिण्यं च प्रददाति। एवमेव कीलक द्वारा महासरस्वत्याः प्रसन्नतया सर्वज्ञतायाः पूर्णविशेषस्य हर्षस्य च प्राप्तिं भवति।

सर्वमेतत् समीक्ष्य निरीक्ष्य च भगवत्याः आनन्दमयं स्वरूपा आचार्यः अभिनवगुप्तोऽपि स्वकीयं हार्दं न तेन मनसा प्रकटयति .....

तव च का किल न स्तुति रम्बिके

सकलशब्दमयी किलते तनुः।

निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो

मनसिज्ञासु बहिः प्रसरासु च॥<sup>३४</sup>

इति विचिन्त्य शिवे शमिता शिवे

जगति जातमयत्नवशादिदम्।

स्तुति जपार्चन चिन्तन वर्जिता

न खलु काचन कालकलास्ति मे॥<sup>३५</sup>

सन्दर्भग्रन्थाः —

1. रघुवंशमहाकाव्यम् 1/1
2. श्रीदुर्गासप्तशती 5/71
- 3.
- 4.
5. ऋग्वेदोक्तदेवीसूक्तम् -1

6. ऋग्वेदोक्त देवी सूक्तम् - 2
7. ऋग्वेदोक्त देवी सूक्तम् - 6
8. श्री दुर्गासप्तशती - 11/6
9. श्रीमद्देवी भागवत
10. श्री दुर्गासप्तशती - 10/5
11. श्री दुर्गासप्तशती - 11/54-55
12. श्री दुर्गासप्तशती - 1/47-48-49
13. वही
14. वही
15. वही
16. वही - 1/57-58
17. वही - 1/57-58
18. श्री दुर्गासप्तशती - 1/73-86
19. श्री दुर्गासप्तशती - 1/94-95
20. श्री दुर्गासप्तशती - 1/101
21. श्री दुर्गासप्तशती - 2/36
22. श्री दुर्गासप्तशती - 2/37
23. श्री दुर्गासप्तशती - 2/38
24. श्री दुर्गासप्तशती - समापन देवीमयी महाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त

# प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के काव्य संकलन 'समष्टि' में लोकदेवता एवं संवेदना

शिल्पा अग्निहोत्री

संस्कृतमगाधो दः

अहं तत्र कश्चन लघुमत्स्यः

यदा कदाचित् उन्नमय्य तुण्डं जलतलात्

उन्मुक्तमाकाशमपि विलोकयामि।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत जगत में जनवादी कवि, प्रखर चिन्तक, आधुनिक संस्कृतरचनाधर्मिता के मानदण्ड एवं नीरक्षीरविवेकी समीक्षक के रूप में प्रथित आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी का योगदान सर्वविदित है। वे भारतीय संस्कृति के संरक्षक भी हैं। उनकी वाणी और लेखन में संस्कृति के प्रति समर्पण स्पष्ट झलकता है। उनके काव्यों में लोक चेतना स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं क्योंकि उनको आशा है कि उनके लेखन कार्य से आस-पास का संसार और पाठक वर्ग भी सम्पन्नतर और बेहतर बन सकेगा।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी को अपने लेखन में पूर्ण विश्वास है। प्रायः लेखनकार्य के फलस्वरूप जो भी परिवर्तन होता है, वह तात्कालिक न होकर दूरगामी और बाकून होकर आंतरिक स्तर पर होता है। उनका मानना है कि “जीवन की आपाधापी और भाग-दौड़ में साहित्य को उस समय भले ही न देखा जाता हो पर बाद में वह समाज में सार्थक व दूरगामी परिवर्तन करता है।”

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी का काव्य संग्रह 'समष्टि' भारतीय काव्य परम्परा के अनेक भाव बोध, सौंदर्य बोध और काव्य बोध को पाठकों के समक्ष रखती है। राधावल्लभ त्रिपाठी वर्तमानकालिक, सामाजिक यथार्थ पर गहराई से चिंतन करते रहे हैं और यहाँ भी उनकी प्राथमिकता आधुनिक संदर्भों में मनुष्य के अस्तित्व अन्वेषण की रही है। इस शृंखला में वे हमारी प्राचीन भारतीय परम्परा से लेकर आधुनिक समस्याओं पर भी विमर्श करते हैं। अपनी

---

शोधार्थी, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

चिन्तनधारा में वे कई आधुनिक दृष्टान्तों और प्रतिमानों की सहायता लेते हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक सोद्देश्यता स्पष्टतया प्रेषित होती है। एक ही कवि में इस प्रकार की शास्त्रीयता और आधुनिकता का अनूठा संगम दृष्टिगोचर होना आह्लादकारी है। उनकी कविताएँ न केवल हृदयस्पर्शी हैं अपितु ज्ञानप्रद भी हैं। प्रस्तुत संकलन 'समष्टि' में वर्ष २०१० के बाद से २०१४ तक की रचनाएँ हैं। इस संग्रह में कवि की ३० कवितायें संग्रहित हैं।

“बुद्ध एकोहम्” के उद्घोष के साथ कवि अपने काव्य संग्रह की प्रथम कविता 'समष्टि' का आरम्भ करता है। अपने जीवन के तृतीय आश्रम में प्रवेश कर चुका कवि सर्वदर्शन मौलिभूत वेदांत की भाव-भूमि से अपने काव्य संग्रह का आरम्भ करता है।

**किं कुर्यादयमाकाशो वराकः ? आकाशस्य कृते न कुतोपि अवकाशः।** आकाश भले ही अवकाश न प्राप्त कर पाये लेकिन 'आकाश' नामक कविता में कवि को पर्यावरण प्रदूषण और शहरों में जंगल की भाँति उगती इमारतों पर प्रश्न चि लगाने का अवसर मिल ही जाता है। उस आकाश को सब ओर से ऊपर उठती इमारतें पीसती हैं—**पिनष्टि एनम् संहति सौधानम्।** यंत्रागारों की चिमनियों से उठता धुँआ आकाश को डराता है—**भीषयति एनम् धूमः उद्गारनालिकानाम्।**

औद्योगिक इकाइयों की चिमनियों से निकलने वाला धुँआ हानिकारक है और इनसे निकलने वाला कार्बनडाई ऑक्साइड गर्मी बढ़ाता है। इससे बचने का आकाश को स्वयं अपना आकाश नहीं मिल रहा है—**आत्मनः आकाशं मार्गयते आकाशः।**

वैज्ञानिक मानते हैं कि मानवीय गतिविधियाँ भूमंडलीय तापन के लिए दोषी हैं। ग्लोबल वार्मिंग से पृथ्वी लगातार गर्म होती जा रही है। वैज्ञानिकों का कहना है कि इससे सूखा बढ़ना, बाढ़ की घटनाएँ अधिक होना और मौसम का मिजाज बुरी तरह बिगड़ रहा है। ग्लेशियर पिघल रहे हैं और रेगिस्तान विस्तारित होते जा रहे हैं। कहीं असामान्य बारिश हो रही है तो कहीं असमय ओले पड़ रहे हैं। हमारी पृथ्वी खतरे में है।

ग्लेशियर के पिघलने से समुद्रों का स्तर बढ़ता जा रहा है, जिससे प्राकृतिक तटों का कटाव आरम्भ हो गया है। इस प्रकार तटीय इलाकों में रहने वाले अधिकांश लोग बेघर होते जा रहे हैं। इसी बीच खबर आई थी कि “तुवालु” नामक देश पूरी तरह डूब गया है। जलवायु परिवर्तन का सबसे ज्यादा असर मनुष्य पर ही पड़ रहा है और कई लोग अपनी जीविका और जीवन से हाथ धो बैठे हैं। कवि प्रस्तुत कविता 'धरित्री' में उसी ओर हमारा ध्यानाकर्षण चाहता है।

कालिदास आदि महाकवियों ने इस भारतभू को “सागररसना” कहा है। परन्तु आज वैश्विक तापन से वह सागर जो कभी करधनी के रूप में इस धरती का श्रृंगार करता था, अब उपकंठ तक आ गया है। वह आज पृथ्वी का गला दबाने को आतुर प्रतीत होता है—

**किं कुर्यादियं धरित्री ?**

**अस्य सागरस्य किं कुर्यादेषा ?**

इस सागर का क्या करे यह पृथ्वी ? भले ही यह गंभीर और विशाल है, धरती से कई गुना बड़ा इसका आकार है। फिर भी पृथ्वी के लिये सागर एक बालक की तरह ही था। जब यह बालक पृथ्वी के पाँवों पर पड़ा खेलता रहता, फेन के पुंज में खिलखिलाता तब उसे खेलता देख वह बहुत खुश हो लेती थी। कभी-कभी जब शरारत पर उतर आता यह सागर तो वह अपनी लहर के हाथ उठा-उठा कर धरती को छूना चाहता, उसे नहला देता। सागर उसके आगे थिरकता कभी-कभी दुःसाहस कर बैठता सागर और डूबो देता धरती के पुत्रों की नौकाएँ। धरती उदास देखती रह जाती जहाज डूब जाते .....।

लेकिन ऐसा तो पहले नहीं हुआ कि सागर दुर्दांत दानव की तरह इस पृथ्वी को निगल लेने को दौड़ लगाये। यह सागर तो वह पूर्व परिचित सागर नहीं है ! इसका ऐसा विकराल रूप पहले तो नहीं देखा ? इस सागर का क्या करें यह धरती ?—

**परन्तु तदानीमपि एवं तू नाभूत्**

**यदयं सागरः दुर्दान्तदानव इव**

**शृंगान तीक्ष्णीकुर्वन् एनां निगिलितुं धावेत्.....**

उपर्युक्त वर्णन २६ दिसम्बर सन् २००४ की सुबह अनेक सुन्दर जिन्दगियों के लिए खौफनाक मौत का पैगाम लेकर आई सुनामी की याद दिलाता है। जिसमें हजारों लोगों के घर तबाह हो गए, हजारों जीवन बर्बाद हो गए। दुनिया के नक्शे से कुछ द्वीप गायब हो गए। भारत का दक्षिण का अन्तिम बिन्दु इन्दिरा पॉइण्ट डूब गया। अनेक द्वीप अपनी जगह से विस्थापित हो गए।

सुनामी लहरों के कारण समुद्र तट पर बसे तमिलनाडु राज्य के तीन नगर कुडलूर, नागपट्टिनम और वेलांगनी लगभग नष्ट हो गए। साठ से ज्यादा गाँवों का पृथ्वी पर कोई नामोनिशान बाकी नहीं रहा। सबको समुद्र की सुनामी लहरें खा गईं। लोग अपनी जान बचाने के लिए लहरों से डरकर भागे परन्तु वे भागते कहाँ तक ? काल उनके सिर पर मँडराता हुआ, गहराता हुआ आया था। आखिर इस सागर का क्या करें यह धरित्री ?

“भवनस्य छद्मै वाटिका” कविता में आधुनिक शहर की विडम्बना की ओर संकेत

है। आज बगीचे घर की छतों पर लगते हैं।

यत्र उत्तुङ्गानां वज्रलेपघटितानां सौधानां काननं प्रसृतम्  
तत्र सत्यं कान्तार आसीत्....

सभ्यता के आरम्भ में जब मनुष्य ने जंगलों को काटकर बस्तियाँ बसाई थी और खेती शुरू की थी, तो वह सभ्यता का विस्तार था। परन्तु अब विकास के नाम पर मनुष्य की स्वार्थ सिद्धि के चलते जंगलों की अधाधुंध कटाई होने से लग रहा है कि जंगलों का अस्तित्व अब केवल घर की छतों पर ही बचा है और यदि ऐसा ही चलता रहा तो हमारी सभ्यता का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा।

गृहस्वामी चिन्तयति एतावता तु एतेभ्यो जलं दत्तम्  
यदा नलेभ्यश्छदिं यावदुपरि जलं नागच्छेत्  
ततः किं भविता ?

जल के संकट को स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण विश्व में महसूस किया जा रहा है और कई विशेषज्ञ चेतावनी दे चुके हैं कि अगला विश्व युद्ध अगर हुआ तो वह जल के कारण ही होगा। इसके लिए जनसंख्या विस्फोट एवं भोगवादी संस्कृति भी जिम्मेदार है।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी 'गाथासप्तशती' की एक श्रृंगारिक गाथा (पंथअ, ण एत्थ संथरमत्ति मणं पत्थरत्थले गामे) के प्रसंग को प्रस्तरस्थले नगरे शीर्षक में समाज में विस्तार पा चुकी प्रस्तरमयता और संवेदनहीनता की ओर संकेत करते हैं। बचपन में प्रायः एक कथा सुनाई जाती है। एक राजा वरदान मांगता है कि जिस वस्तु को वह स्पर्श करे, वह स्वर्ण की बन जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान, मानव सभ्यता को इससे विपरीत अभिशाप मिला हुआ है। जिसे-जिसे पूँजीवाद और भौतिकवादी संस्कृति ने स्पर्श किया है, वह प्रस्तर की बन जाती है। चाहे वह शरीर हो या मन।

शास्त्राणां शय्यासु निविश्य, काव्यानां समस्तकेषु शयिताः

जनाः अत्र न दृश्यन्ते

प्रस्तरस्थले नगरे, सर्व प्रस्तरायितम्।

प्रस्तरस्य उद्यानानि, प्रस्तरस्य प्रासादाः

प्रस्तरशरीराणि, प्रस्तरस्य मनांसि।

यह देख हमारी आँखें भी पथराने लगती हैं। प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य के गहन अध्ययन से कवि अनुभव लोक अतिविस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण बन गया है। लौकिक

संवेदनाओं की सच्ची अनुभूति तथा यथार्थ के धरातल पर उनका वर्णन त्रिपाठी जी जैसे सिद्धहस्त एवं निपुण कवि की ही कृतियों में सम्भव है।

**देहल्यां मेट्रोयाने** नामक काव्य में दिल्ली के हृदय में समाहित मेट्रोयान के चार दृश्य के व्याज से प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी विकास की मोघा यात्रा की ओर संकेत करते हैं। चतुर्थ दृश्य से पर्दा भविष्य में इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में उठाता है। मेट्रोयान में घुसना लगभग असंभव है। कवि अंदर घुसता नहीं है, भीड़ के रेले के साथ कंपार्टमेंट में ठेल दिया जाता है। युवा हाथ मोबाइल में डूबे हैं या वार्तालाप में लगे हैं। उनमें से कोई युवा कवि को देख कर आश्चर्य से कहता है—**कियत् कालमंय भारभूतस्तिष्ठेत् ?**

कवि इस कविता में जो लिखता है, वह समस्त एक प्रौढ़ के रूप में भोगी गयी यातनाओं, कष्टों और प्रताड़नाओं को एक बार पुनः भोगने के समान है, सम्भवतः कवि ने यथार्थ में न भोगा हो लेकिन अपने अन्तः मन में उस पीड़ा को अवश्य भोग लिया है। मेट्रो के चाकचक्य और आधुनिक मानव की संवेदन हीनता को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि हमने कंगूरे को सजाने के चक्कर में नींव की उपेक्षा कर दी है। आधुनिकता का यह भव्य प्रासाद अंदर से खोखला है।

प्रस्तुत कविता में इतनी शक्ति है कि इसको पढ़ते समय पाठक का मन बुजुर्ग के लिए अपनी सीट छोड़ने को आतुर हो ही जाता है। आचार्य मनु ने कहा है—

**ऊर्ध्व प्राणा कुत्क्रमन्ति यूनः स्थविर आयति।**

**प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिद्यते॥ (मनुस्मृति २/१२१)**

यदि हम अपने गुरुजनों और श्रेष्ठजनों को देखकर खड़े भी नहीं हो सकते, तो हम कितने आलसी हैं। उनको प्रणाम नहीं कर सकते तो हम कितने अभिमानी हैं। आलस और अभिमान के कारण क्रिया-शक्ति कहाँ रह सकती है? हमारी प्राण-शक्ति तो अपने आप लुप्त हो जायेगी। कहा भी गया है—

**अभिवादशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।**

**चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥ (मनुस्मृति २/१२१)**

आधुनिकता की दहलीज को पार कर चुकी वर्तमान युवा पीढ़ी के प्राण अब संभवतः उत्क्रमण नहीं करते हैं, क्योंकि संवेदना ही प्राण धारण की सूचिका है और संवेदना शून्य आधुनिक मनुष्य में प्राण की तलाश करना आकाश कुसुम में सुगंध की तलाश करने के समान निष्फल है।

लेकिन कवि विचारहीनता और आचारहीनता के इस युग में अपनी उम्मीद नहीं छोड़ना चाहता है। उसकी यह कविता मनुष्यता को सुरक्षित रखने में सहायक सिद्ध होती है, जब हम देखते हैं कि कवि को पढ़ चुका सहृदय पाठक किसी सार्वजनिक परिवहन यान में यात्रा करते समय किसी भी बुजुर्ग के लिए न केवल आरक्षित सीट अपितु स्वयं अपनी सीट भी खाली कर उन्हें (बुजुर्ग) बैठने के लिए कहने को उत्सुक नजर आता है।

कवि बीजानि कविता में बीज के माध्यम से अनेक सन्दर्भों को एक साथ समेट लेता है। कुछ बीज गोदाम में पड़े रह गए। कुछ बीजों को कचरे में फेंक दिया गया, जो कुक्कुरमुत्ते की तरह उग गए और नगरपालिका यान से उखाड़ दिये गए। कुछ भून कर निर्वीर्य कर दिये गये। इस प्रकार बीजों को बोया जाना, अंकुराना शखाओं और पत्तों में लहलहाना इत्यादि कामनायें पूर्ण न हो सकी।

इसी कविता में यदि बीज के स्थान पर बालक शब्द रख दिया जाए तो इसके गहरे अर्थ निकलने लगते हैं। जैसे- कुठ मादा शिशुओं को गर्भ में ही मार दिया गया। कुछ बच्चे अभावों में झुगियों में पल रहे हैं, जिनके घरों को कभी भी नगरपालिका के बुलडोजर रौंद डालते हैं। आज भी भारत के २५ प्रतिशत बच्चे विद्यालय का मुँह भी नहीं देख पाते। आज भी मुम्बई की “धारावी” विश्व की सबसे बड़ी झुग्गी है।

पुनः यदि बीज के स्थान पर ‘इच्छा’ शब्द रख दिया जाए तो इसके भी कई गहरे अर्थ निकलने लगते हैं। कवि कविता की अंतिम पंक्तियों में कहता भी है कि उन बीजों का क्या जो मन के कोने में पड़े रह गए?

कवि के अनुसार मुश्किल ही होता है, बीज हो सकना और उससे ज्यादा मुश्किल है बीज का अंकुर बनना, अंकुर का शाख में विस्तार पा लेना। कहा भी गया है-

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥ (सा.द. अग्निपुराणे)

न खलु तद्वाच्यं कविता में महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में ऋषि कण्व राजा दुष्यंत के लिए सन्देश भेजते हैं-

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान् उच्चैः कुलम् चात्मनः।

त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च तांम्।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया,

भग्यायत्तमतः परम् न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः॥



लेकिन प्रो. राधावल्लभ कालिदास के इस प्रसिद्ध श्लोक की पङ्क्ति “न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः” को आधार बना कर एक नवीन उद्भावना कर दहेज हत्या और ससुराल में दी जाने वाली अनेक प्रताड़नाओं पर एक सशक्त कविता का निर्माण करते हैं। दहेज प्रथा भारतीय समाज पर एक बहुत बड़ा कलंक है। हजारों नारियां इसकी बलिवेदी पर अपने प्राण दे चुकी हैं। समाज सुधारकों के प्रयत्नों के बावजूद दहेज प्रथा ने अत्यंत विकराल रूप धारण कर लिया है। यही कारण है कि आज भारतीय समाज में पुत्री का जन्म पिता के लिए चिंता का कारण माना जाता है।

कवि कहता है कि शादी के दिन जैसे बाराती हल्ला मचाते हैं, समधी राक्षस की तरह दहेज माँगते हैं, न मिलने पर बेटी को देख लेने की जो धमकी देते हैं, वह सब वधूबन्धुओं से ‘कहने की बात नहीं’ है। अपने परिवार की लाज की रक्षा के लिए बेटी सब कुछ सहन कर लेगी, जैसे- तैसे जीवन गुजार ही लेगी ससुराल में प्रताड़ना सहते.... ‘यह सब कहने की बात नहीं’ है।

**वयम्**— वर्तमान काल में लेखन कार्य आजीविका का साधन मात्र बन गया है। आज के भौतिकवादी युग में यह बुराई नहीं है लेकिन कवि और लेखक को मात्र इसके लिए नहीं लिखना चाहिए। कविकर्म एक साधना है। कवि को एक तपस्वी की भांति होना चाहिए।

**नवा नायिका**— स्त्री-विमर्श २० वीं सदी की देन है। इस विमर्श से स्त्री की व्यथा एक कथा-मात्र बन कर रह गयी। स्त्रीविमर्श एक महानगरीय और अकादमिक फैशन मा. बन गया। यह देखने में आया है कि स्त्री सशक्तिकरण का झंडा बुलंद करने वालों का ही सशक्तिकरण हुआ। स्त्री अभी भी निःशक्त है। प्रो. राधावल्लभ स्त्री को किसी समाजवाद, साम्यवाद, धर्मवाद और नैतिकता के पैमाने से नहीं मापना चाहते। वे अब आज की नायिका की उपमा ‘दीपशिखा’ से नहीं देते और न ही उनकी नायिका नीलकण्ठपरिभुक्तयौवना है, कवि बिहारी की नित प्रति पून्यौ ई रहै आनन ओप उजास वाली नायिका अब स्वयं को रसोई में झोंक देती है। एक तरफ जहाँ पहले कालिदास की नायिका इंदुमती जब राजाओं को छोड़कर आगे बढ़ी तो राजाओं के मुख विवर्ण भाव को प्राप्त हो गए थे—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।

नरेंद्र मार्गट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (रघुवंश—)

लेकिन वहीं दूसरी तरफ प्रो. राधावल्लभ की नायिका जब राजमार्ग-संचरण करती है तो स्वयं ही भयाक्रांत रही है। उसका मुखमंडल कांति-विहीन रहता है। उसे डर रहता है कि रोज प्रातः काल अखबार में जो किसी ‘निर्भया’ के साथ घटी दिल दहलाने वाली घटना पढ़ने को

मिलती है, वह कहीं उसके साथ न घट जाए। लेकिन फिर भी वह अपने मन में आशा की दीपशिक्षा जलाये रखती है। इस प्रकार वे नायिका की वर्तमान सामाजिक छवि के अनुसार नई रचना करते हैं।

वर्तमान युग की आवश्यकता है कि स्त्री को स्वयं उसकी पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक भूमिका चुनने और निभाने के लिए स्वतंत्र रखा जाये, उसे पुरुष-प्रभुत्व के सरकारी तंत्र, चाहे पुलिस हो, दफ्तर, कोई उपक्रम या खुद उसका घर-परिवार, सभी से सुरक्षित होने का विश्वास दिया जाये। सभ्यता के मापदंड ऐसे रचने होंगे, जो स्त्री-संवेदी हों, तब जाकर विमर्शों से विचार और कार्यक्रम जन्म लेंगे, वरना विमर्श केवल प्रचार के अंतर्राष्ट्रीय फोरम बन कर, एक और विमर्श-बाजार ही पैदा करेंगे। नूतननवर्षमंगलम्- नव वर्ष की मंगल कामना के साथ कवि कहता है कि बीता वर्ष बहुत अमंगलकारी रहा है। इसमें विशेष रूप से महिलाओं पर अत्याचार बढ़े हैं। “निर्भया काण्ड” की छाया और विस्तार को प्राप्त कर गयी है। इसमें “शान्तं पापम्” की अनुगूँज सुनाई पड़ती है।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने कविता संग्रह की समाप्ति भरतवाक्य की परम्परा से एक नए आशावाद का आह्वान किया है। वे कहते हैं कि आने वाले वर्ष में अबलाओं पर अत्याचार न हो। उनका शीलभंग न हो। यह वर्ष यहाँ की स्त्रियों के लिए मंगलकारी हो।

प्रो. राधावल्लभ लोक चेतना के सशक्त रचनाकार हैं। उनकी कविताओं में वर्तमान युग और समाज की चेतना अभिव्यक्त हुई है। सामान्य व्यक्ति के जीवन से संबद्ध कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जिस पर उन्होंने लेखनी न चलाई हो। आधुनिक कविवल्लभ राधावल्लभ ‘नहि रक्षति डुकृञ् करणे’ को चरितार्थ कर, व्यवहारिक पक्ष का दामन थाम आधुनिक कविता की रचना करते हैं। उनको पढ़कर यह पता चलता है कि आज का संस्कृत कवि कूपमंडुक नहीं है। वह संसार की वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नहीं है। पर्यावरण चेतना, अस्तित्ववाद, नारीवाद, उत्तर आधुनिकतावाद, छायावाद आदि संस्कृत कवि के लिए नूतन नहीं है। प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के कार्यकलापों की नवीन प्रस्तुति ‘समष्टि’ नयी पीढ़ी का प्रेरणा स्रोत है।

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. समष्टि: राधावल्लभ त्रिपाठी, देववाणी परिषद् नवदेहली
2. मनुस्मृति
3. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ
4. रघुवंश महाकाव्य – कालिदास
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – कालिदास

## वैयाकरणसम्प्रदाये कौण्डभट्टस्यावदानं

डॉ. मङ्गलारामः

महावैयाकरणभट्टोजिदिक्षितस्य भ्रातृपुत्रस्य कौण्डभट्टस्य जनको रङ्गोजिभट्ट आसीत्। पुंभावावतरितः सरस्वती स्वरूपः रङ्गोजिभट्टः केवलाब्दैतवादी आसीत्। रङ्गोजिभट्टस्य जनको लक्ष्मीधर आसीत्। कौण्डभट्टः पण्डितराज जगन्नाथश्च समकालिकौ स्तः तस्मादस्य कौण्डभट्टस्य कालो वैक्रमाब्दस्य महाराष्ट्रिय आसीत्। श्रीकमलाशकङ्करप्राशङ्करत्रिवेदिनो मतानुसारं कौण्डभट्टस्य परिवारो मूलतो गोदावरीनद्योस्तटवर्तिप्रदेशवासी आसीत् किन्तु जीवनस्योत्तरार्द्धकाले बनारसवासी अभूत्।

कौण्डभट्टेन अष्ट रचना रचिता वैयाकरणभूषणवैयाकरणभूषणसास्त्र-वैयाकरणभूषणसास्त्रकर्मन्तर्कप्रदीपत्रयायपदार्थदीपिका वैयाकरणसिद्धान्त दीपिका स्फोटवादश्च। वैयाकरणभूषणसारग्रन्थं माधारी कृत्य नव टीकाः रचिताः सन्ति ताश्च हरिरामकृतकाशिका वनमाली मिश्रकृतवैयाकरणमतोन्मज्जिनी गोपालदेवकृतलघुभूषण कान्तिः हरिवल्लभकृतदर्पणं भौरवमिश्रकृतपरीक्षा रुद्रनाथकृतविवृतिः कृष्णमिश्रकृतभूषणव्याख्या बालकृष्णशास्त्रिपञ्चोलीकृतप्रभाशङ्करशास्त्रिकृतशाङ्करी च।

वैयाकरणभूषणसारग्रन्थो भट्टोजिदीक्षितरचितस्य वैयाकरणसिद्धान्तकारिकाग्रन्थस्य व्याख्याग्रन्थरूपेण वर्तते। वैयाकरणभूषणसारेऽतिसरलमार्गेण वैयाकरणसिद्धान्त-कारिकाग्रन्थस्य कारिकाणां विद्वत्तापूर्णा व्याख्या कृता। कौण्डभट्टस्य शैली अत्यन्तप्रवाहपूर्णा वर्तते। ग्रन्थकारो विरोधितर्काणां बलपूर्वकं दृढशब्दैरुपन्यासं कृत्वा तत्पश्चात्तेषां युक्तियुक्तखाण्डनं करोति। वैयाकरणभूषणसारग्रन्थश्चतुर्दश सुप्रकरणेषु विभक्तोऽस्ति धात्वर्थलकारार्थसुबर्धनामार्थसमासशक्ति शक्तिनञर्थ-निपातार्थभावप्रत्ययार्थदेवताप्रत्ययार्थाभेदैकत्वसंख्याविवक्षादिस्फोटनिर्णयभेदात्।

वैयाकरणमहाभाष्ये प्रथमपस्पशङ्खिकवद् वैयाकरणभूषणसारग्रन्थस्यापि प्रथम धात्वर्थनिर्णयप्रकरणमति सुन्दरं सरसञ्चास्ति। धात्वर्थनिर्णयप्रकरणे कौण्डभट्टस्य मीमांसान्यायवैशेषिकव्याकरणायुर्वेदज्ञानस्य पारङ्गतता स्पष्टतया दरीदृश्यते।

‘फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङःस्मृताः। फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थनस्तु

---

आचार्यः, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

विशेषणम्’<sup>३</sup>॥ इति कारिकानुसारं धातुना फलव्यापारौ कथ्येते। तिङ्भिः कर्मकर्तारौ कथ्येते॥ व्यापारांशे विशेषणं भवति। पचप्रभृतिधातुप्रसङ्गेऽव्यवानां शिथिलीभाव एव फलमुच्यते। व्यापारस्याभिप्रायोऽत्र साध्यत्वेन कथित क्रियैव। साध्यां क्रियां मीमांसका भावनानाम्नो व्यवहारं कुर्वन्ति। क्रमिकस्वरूपा साध्यस्वरूपा चैव क्रियोच्यते। उक्तमपि। भर्तृहरिणा- ‘यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यतवेनाभिधीयते। आश्रितक्रम रूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥’<sup>३</sup> यथा पाकः कृतिः प्रभृत्युक्तेषु अन्यक्रियाकाङ्क्षा दृश्यते तथैव पचति करोति प्रभृत्युक्तेषु साकाङ्क्षा न दृश्यते यद्यपि पाकः पचति अनयोरुभयोः स्थलयोर्धातुः तदर्थश्चैव एव अस्माद् हेतोः सिद्धं यत् पचति करोति इत्यादिषु क्रिया साध्यत्वेन कथ्यते पाकः कृतिः इत्यादिषु च सा सिद्धत्वेन कथ्यते अन्यक्रियानुत्थापनमेव साध्यावस्थया लक्षणम् अस्यामवस्थायां क्रियासत्त्वभूताद्रव्यभूता वा तिष्ठति।

साध्यत्वेन प्रतीयमानोऽयं व्यापारः फूत्कारत्वाधः सन्तापनत्वविविधयत्नत्वादिभिः तत्तद्विशेषरूपैर्धातुवाच्यो भवति यतो हि पचतीत्युक्ते तत्सर्वबोधोऽनुभवसिद्ध एव। यदि तत्सर्वक्रियाबोधः पचतीत्येकशब्दे जाते पचति पदं नानार्थकं भविष्यतीत्याशङ्कान समीचीना यतः तन्नानाक्रियासु समाहारकारि ज्ञानविशेषं भवति यथा तदिदमादिशब्दाः नानापदार्थबोधकाः सन्तोऽपि नानार्थका न भवन्ति तथैवात्रात्यवबोधनीयम्। एकधातुनैकाया एव क्रियायाबोधो भवीति नियमोऽपि अनेकक्रिया एकस्मिन्नर्थे बुद्धिविशेषसस्य एकतामाश्रित्योपपन्नो भवति। उक्तमपि वाक्यावाक्यपदीये गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते पचतीत्यत्र एकाश्रमिका पाकानुकूला भावना पच्यते इत्यत्र च एकाश्रमिका या विक्लितस्तदनुकूला भावनेति शाब्दबोधो भवति। घटो न श्यतीत्यत्र घटाभिन्नाश्रय को नाशानुकूलो व्यापार इति बोधो भवति।

धातोः फलातिरिक्तो व्यापारार्थोऽपि भवतीति वैयाकरणानां मान्यता वर्तते। अत्र प्रमाणं पचतिपदस्य विवरणम्। अयमेव नियमो यद् विव्रियमाणविवरणेऽपि समानार्थके भवतः ‘यथा’ ‘मधवा इन्द्रः। अत्र विव्रियमाणोऽस्ति मधवा इन्द्रश्चास्य विवरणम् अतः तो उभौ समानार्थको। एवमेवात्र पचतिपदस्य पाकमुत्पादयति पाकानुकूला भावना पाकानुकूलोत्पादना इति विवरणानि सन्ति। एषु सर्वेषु विवरणेषु व्यापारस्य स्पष्टप्रतीतिर्भवति। अतः विव्रियमाणधातुरपि व्यापारवाचकोऽस्तीति सुतरां सिद्धं भवति।

प्राचीन नैयायिकाः कृतिं यत्नं वा एव धातुवाच्यं मन्यन्ते । ते कथयन्ति यद्

वैयाकरणानुसारं पच् इति शक्यस्य शक्ततावच्छेदकानि फूत्कारत्वाधाः सन्तापनत्वचुल्लयुपरिधारणात्वादीनि नैकानि भविष्यति किन्तु यदि ते धात्वर्थः कृतिं मन्यन्ते तर्हि शक्यावच्छेदकं कृतित्वमितोकमेव भवति। इत्थमस्माकं मते वैयाकरणापेक्षया लाघवं वर्तते। यदि वैयाकरणाः कथयिष्यन्ति यद् धात्वर्थे कृतिमते 'रथो गच्छति' 'चक्षुर्जानाति' प्रभृति प्रयोगा अनुपपन्ना भविष्यन्ति यतश्चक्षुः रथयोर्यत्नं न प्राप्यते तच्च चेतनगुणो वर्तते रथश्चक्षुस्तुजडपदाथोवेव। अत्र नैयायिकाः कथयन्ति यद् ईदृशस्थलेषु मुख्यार्थबाधिते सति लक्षणया व्यापारादीनां कल्पना क्रियते तस्मादत्रकोऽपि दोषो न भवति। अत्र कौण्डभट्टः कथयति यद् नैयायिकाः स्वमते लाघवं वैयाकरणमते च गौरवमाहुः तदयुक्तम्। यतदा ते गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य लक्ष्यतावच्छेदकं गङ्गातीरत्वं मन्यन्ते तदा तान् गौरवदोषः कथन्न प्रतिभाति? वस्तुतः शक्तया यदर्थबोधप्रतीतिः सर्वजनविदिता तस्या अपलापो न क्रियते। पच्छातुना फूत्कारादीनां नैकक्रियाणां बोधो भवति अतः यदि फूत्कारत्वादः नैका शक्यतावच्छेद मन्यन्ते तर्हि अत्र कश्चित्तुगौरवदोषो नास्ति अपित्वियं वस्तुस्थितिरेव। इति विवरणे कृधातोर्यत्नार्थकत्वादिदं सिद्धं यद् धातुवाच्यं यत्न कृतिवैव भावना व्यापारो वा न तर्हि इदमपि न समीचीनम्। शतशः स्थलेषुकृधातोर्यत्नार्थो न क्रियते यथा-रथो गमं करोति, बीजादिनाङ्कुरः कृतः इतिस्थलेषु कृधातोर्यत्नार्थो नास्ति यतः यत्नन्तु 'सुखदुःखेच्छाव्देष्टप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' इति वैशेषिक वचनादात्मनो गुणो वर्तते तच्च यत्नं रथनी जादि जडपदार्थेषु भवितुं नार्हति।

मीमांसका मन्यन्ते तिङ्वाच्यैव किन्तु मीमांसकानामियमवधारणा नोचिता यतः यदि व्यापारो धातुवाच्यो न भवेत्तर्हि धातूनां सकर्मकाकर्मव्यवस्थापि न भवेद्य तोहि सकर्मकधातोर्द्वे लक्षणे एवं भवितुमर्हतः 'स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वम्'। वद्योरनायोर्लक्षणयोस्तात्पर्यसिद्धं यद् धात्वर्थस्य वदौ प्रभागौ स्तः फलं व्यापाराश्च। ये तौ भिन्नभिन्नाधिकरणयो तिष्ठतः तर्हि धातुरकर्मको भवति। यथा देवदत्तस्तण्डुलान् पचतीत्यत्र पचधातोः फलं विक्लितस्तण्डुलेशु पाकव्यापारश्च अग्निज्वलनप्रभृतिस्वरूपः देवदत्ते सत्त्वात्पचधातुः सकर्मकः देवदत्तः शेते इत्यत्र शीङ्धातोः फलं शयनं नेत्रनिमेषप्रभृतिस्वरूपश्च शयनानुकूलव्यापारः उभौ देवदत्तै एव तिष्ठतः अतः शीङ्धातुरकर्मकः।

यदि कोऽपि कथयेधत् सर्वसकर्मक धातूनां कृत्वा एभ्योऽतिरिक्ता धातवोऽकर्मकाः सन्तीत्युक्ते सकर्मकाकर्मकव्यवस्थायां सत्यां फलव्यापारयोरुभयोः धात्वर्थवाच्यताया

आवश्यकता नास्ति इत्या शङ्का नोचिता यतः धातूनां सकर्मकाकर्मकताया नियतया न वर्तते। एक एव धातुः कश्चिदर्थे सकर्मकः कश्चिदर्थे चाकर्मको भवति। यथा- ‘वह प्रापणे’ अयं धातुः ‘सेवको भारं वहति’ इत्यत्र प्रापणार्थे सकर्मकः ‘नदी वहति’ इत्यत्र च स्यन्दनार्थेऽकर्मको भवति। उपसर्गयोगादपि नैकाकर्मकधातु वः सकर्मका भूयन्ते। यथा-स भवति, स दुःखमनुभवति। अतः धातूनां सकर्मका कर्मकव्यवस्थायै फलव्यापारयोः उभयोः धात्वर्धवाच्यता मता।

व्यापारस्य धात्वर्थे न सति ‘भूवादयो धातवः’ इति सूत्रेण धातुसञ्ज्ञापि भवितुं न शक्यते। अस्मिन्यसूत्रे प्रथमं भूवाशब्दयोर्द्वन्द्वसमासो भवति ‘भूश्च वाश्चेति भूवौ’। द्विविधयोर्व्यवस्थासादृश्यवाचकरोरादिशब्दयोर्द्वन्द्वसमासे ‘सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ’ इति सूत्रानुसारमेकशेषः क्रियते’ आदिश्चादिश्चेति आदी’। अथ ‘भूवौ आदी येषां ते इति भूवादयः’ इति बहुव्रीहि समासे कृते ‘भूवादयः’ इति पदसिद्धिर्जायते। अत्र द्वयोरादिशब्दयोः प्रथमः व्यवस्थावाचक आदिशब्दस्तु भूशब्देन सह सम्बद्धो भवति द्वितीयश्च प्रकारवाचक आदिशब्दः वाशब्देन सह सम्बद्धो भवति। इत्थं ‘भूवादिशब्दाः ये वाशब्दसदृशाः सन्ति तै धातुसञ्ज्ञकाः भवन्ति’ इति सूत्रार्थो निष्पद्यते। भूप्रभृतिशब्दाः धातुपाठस्य दशगणेषु परिपठिताः सन्ति। वासदृशाः इति कथनस्यायमाशयो यद् यथा। वा गतिगन्धनयोः क्रियावाचका वर्तते तथैव यदि भ्वादिशब्दाः क्रियावाचका भवेयुः तर्हि ते धातुसञ्ज्ञका भवन्ति। इत्थं भूवादयो धातवः’ इति सूत्रानुसारं क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वम्’ इति धातुलक्षणं निष्पद्यते। क्रियावाचकत्वं धातुत्वमित्येवोक्ते हिरूक्विनाप्रभृतीनामव्ययानामपि धातुसञ्ज्ञा भवेत् यतः इमे उभे अन्येऽपि वर्जनक्रियावाचके स्तः भ्वादिगण पठित्वं धातुत्वमित्येवोक्ते याः पश्यसीति स्थलेषु सर्वनामयाशब्दस्यापि विकल्पार्थकवाशब्दस्यापि च धातुसञ्ज्ञा भवेद्यतः अनयोरुभयोरदादिगणे पाठो वर्तते।

देवदत्त आत्मानं जानातीत्यादिवाक्येषु सकर्मकोऽपि ‘ज्ञा अवबोधने’ धातुर्वैयाकरणमतानुसारमकर्मक एव तिष्ठति यतः यद्धातोः फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्ये सति स धातुरकर्मको भवति। अत्र ज्ञाधातोः फलं ज्ञानं तदनुकूलव्यापारश्च उभौ देवदत्तकर्तृनिष्ठौ स्तः तर्हि किं वयं ज्ञाधातुमकर्मकं मन्तुं समर्थाः स्याम अकर्मके च मते सति आत्मामित्यत्र द्वितीया कथं सङ्गता? अस्या आशङ्कायाः समाधानमिदं यद् ईदृशस्थलेषु उपाधिभेदेन कार्यनिर्वहनं क्रियते। उपाधिभेदेनात्मा द्विविधौ

शरीरात्मान्तरात्मा च। अन्तरात्मा कर्तृरूपेण शरीरात्मा च कर्मरूपेण भवितुमर्हति। 'कर्मत्कर्मणा तुल्यक्रियः'<sup>६</sup> इति सूत्रे महाभाष्यकारेणाप्युक्तम्-द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखेऽनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखेऽनुभवति<sup>७</sup> अत्र ज्ञाधातोः ज्ञानरूपफलं विषयतासम्बन्धेन शरीरात्मनि तदनुकूलक्रियारूपभावना चान्तरात्मनि सत्त्वात्सामानाधिकरण्याभावाद् ज्ञाधातुर्नास्ति अकर्मकः अपितुभिन्नाधिकरण-वृत्तित्वात्सकर्मक एव। वाक्यपदीयेऽप्युक्तम्- 'एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदे च परिकल्पिते। कर्मत्वं करणत्वञ्च कर्तृत्वञ्चोपजायते'<sup>८</sup>॥

कारकाणि क्रियया सह अन्वितानि भवन्ति सा च साध्यस्वरूपव्यापारात्मिका क्रिया वर्तते। कारकशब्दस्यार्थस्तु क्रियैव यतः क्रियैव कर्तृकर्मप्रभृतिसञ्ज्ञाः जनयति अतः तां क्रियां कारकनाम्ना कथ्यते। अत्र कारकशब्दो योगरूढ एव। कारकेऽइत्यधिकारे 'ध्रुवमपायेऽपादानम् १० प्रभृतिसूत्रेषु' कारके क्रियायाम्' इत्यस्यानुवृत्तिः क्रियते अतः क्रियायामन्विताना मेवापादानप्रभृतिसञ्ज्ञाः भवन्ति।

'भूवादया धातवः' इत्यादिसूत्रेषु प्रायः क्रियाशब्देन भावनाया व्यापारस्य वा एव ग्रहणं क्रियते यतस्तदर्थे तत्साङ्गकेतिकी शक्तिः प्रसिद्धिः रूढिर्वास्ति। क्रियाशब्देन फलांशस्य ग्रहणं कुत्रचिद् यौगिकार्यबले 'क्रियते निष्पाद्यते व्यापारेणिति क्रिया' इत्येवं क्रियते। यौगिकरूढार्थयोः रूढार्थ एवं बलवान् मन्यते यतः यौगिकार्थस्तु प्रकृतिप्रत्ययादीनामाश्रयं करोति किन्तु रूढार्थस्तु एषां सर्वेषामपेक्षां न करोति अपितु स ऋजुमार्गेण बुद्धौ उपस्थितो भवति। इत्थं क्रियाशब्दस्य मुख्यार्थो व्यापार एवेति निश्चयो भवति। भावनायां व्यापारे वा फलांशो विशेषणम्। कारकाण्यपि कुत्रचित्कर्तृवाच्यस्थले भावनायां विशेषणीभूतानि दृश्यन्ते। यथा देवदत्त ओदनं पचतीत्यत्र 'देवदत्ताभिन्नैककर्तृकौदनकर्मक-वर्तमानकालिकविक्रियनुकूलव्यापारः' इति बोधे देवदत्तादीनि सर्वाणि कारकाणि भावनाया एवं विशेषणानि सन्ति।

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. कौण्डभट्टः, वैयाकरणभूषणसारः, धात्वर्थनिर्णयः, कारिकार, भौमीप्रकाशनम्, द्वितीय संस्करणम्, दिल्ली, 1992
2. भर्तृहरिः, वाक्यपदीयम्, 3.9.1 सम्पादकौ काशिनाथशर्मविष्णु शर्माणौ, पूना, 1965
3. तत्रैव, 3.8.4
4. पाणिनिः, अष्टाध्यायी, 2.3.1., अनीता आर्षप्रकाशनम्, प्रथम संस्करणम्, पानीपतम्, 1990

5. तत्रैव, 2.2.64
6. तत्रैव, 3.2.87
7. पतञ्जलि: व्याकरणमहाभाष्यम्, 3.2.87, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशनम्, दिल्ली, 1967
8. वाक्यपदीयम्, 3.7.204
9. अष्टाध्यायी, 2.4.23
10. तत्रैव, 2.4.24



# काव्य की पूर्णता: अलंकार अथवा व्यङ्ग्यमार्थ ? काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यअलंकारः। करणव्युतात्मा पुरमनमलंकार शब्दः उपमादिषु प्रमुज्यते

शिल्पा अग्निहोत्री

उपर्युक्त समस्त मन्तव्य काव्यालंकारसूत्रकार आचार्य वामन (सातवीं शती ई.) के हैं। उन्होंने अलंकार को ही काव्य की ग्राह्यता का हेतु माना आश्चर्य है कि अलंकार का इतना महिमा मण्डन करने के बाद भी उन्होंने उसे काव्यात्मा नहीं माना। काव्य की आत्मा के रूप में उन्होंने रीति को प्रतिष्ठित किया—रीतिरात्मा काव्यस्य।

आचार्य दण्डी, उद्गर आदि भी अलंकार को ही पक्षधर थे। दण्डी ने तो अतिशय उत्साह में आकर, काव्य को, काव्य सिद्ध कहने वाले प्रत्येक छोटे-बड़े धर्म को, अलंकार मान लिया जो उनकी अलंकार श्रद्धा का प्रमाण है—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाधागमान्तरे।

व्यावर्णितयिदं चेष्टमलंकरत्वयैव नः॥

इस युग का सबसे बड़ा सारस्वत आविष्कार संभवतः अलंकार ही था। लोग अलंकारमहोदधि में ही डूब उतरा रहे थे। परन्तु निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि परमार्थतः काव्य काव्य का अलंकार क्या है? वामन का मत अवश्य ही निर्णयात्मक है कि काव्य में निगूहित, प्रतिष्ठित (अन्तःसत्त्व) अलंकार तत्त्व ही है जो कि काव्य शरीर शोभाधायक होने के कारण उपमादि के रूप में जाना जाता है। यदि वामन काव्यं ग्राह्यमलंकारात् के रूप में भी जाना जाता है। यदि वामन काव्यं ग्राह्यमलंकारात् के अनन्तर सौन्दर्यमलंकारः तथा अलंकारः काव्यात्मा— ये दो सूत्र कही एक साथ लिख देते तो सम्भवतः अलंकार सम्प्रदाय की स्थान सुस्पष्ट हो जाती परन्तु अलंकार को काव्यग्राह्यता का हेतु मानते हुए भी, उसे काव्यात्मा न मानना, वामन की अलंकार निष्ठा को संछिन्ध बना देता है। अलंकार वादियों की अलंकार निष्ठा अतिसिद्धतत्त्व बन कर रह गई। यद्यपि कृतकनिष्ठा के प्रवाह में उन

आचार्यों में रस, भाव, भावोदय, भावशान्ति आदि अवाच्य तत्त्वों को भी रसवदादि अलंकारों के रूप में वाच मान लिया। परन्तु ध्वनिवाद की प्रतिष्ठापना होते ही रसवदादि अलंकारों का अस्तित्व समाप्त हो गया।

अन्नतः अलंकार काव्य शरीर (शब्द एवं अर्थ) मात्र के शोभाधायक तत्त्व बन कर ही अवशिष्ट रहे। आचार्य आनन्दवर्धन में (नवीं शती ई.) उन्हें शरीर स्थानीय तत्त्व ही माना, आत्मस्थानीय नहीं। परन्तु उन्होंने इदम्प्रथमतया अलंकार तत्त्व का मूल्यांकन करते हुए निर्णय दिया कि वाच्य अलंकार (उपमादि) तो काव्य के शरीर-धर्ममात्र हैं। परन्तु व्यङ्ग्य निश्चय ही प्रतीययानार्थ का अंग होने के कारण 'अलंकारध्वनि' के रूप में काव्यात्मा हैं। काव्य की आत्मा तो सहृदयश्लाघ्य प्रतीयमानार्थ ही है जो रसपर्यावसायी है। परन्तु वह प्रतीयमानार्थ वस्तु, अलंकार तथा रस (अनुभूतिमात्र) के रूप में त्रिधाविभक्त है तथा वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रसध्वनि के रूप में मान्य है। इनमें भी रसध्वनि ही प्रधान है, वस्तुतः वही काव्यात्मा है। वस्तु तथा अलंकार ध्वनि का भी पर्यवसान (विलय) अन्नतः रस में ही होता है। आन्नदवर्धन का यह निर्णय लोचनकार यहाँ माहेश्वर अभिनवगुप्तपाद ने लिखा निम्नशब्दों में-

यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यः, न लोकिक्कव्ययहारपतितः, किन्तु शब्दसमय्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुपचितप्राविनिविष्टइत्यादिवा सनाऽनुरागसकुमारस्वसंविदानन्द चर्वणा व्यापार रसनीय रूपो रसः, स काव्य व्यापारारैकगोचरो रसधवनिरति। स च ध्वनिरेवेति। स एवं मुख्यतया आत्मा।

-लोचन (प्रथमोद्योत)

काव्यात्मता का प्रसंग भी लोचनकार ने अत्यन्त तर्कसंगत शैली में उठाया है। वह कहते हैं कि जब शब्दार्थ समष्टि को ही काव्य मान लिया तो उस शरीर (शब्दार्थ) को अनुप्राणित करने वाला कोई आत्मा भी होना चाहिए जैसे मानवशरीर में जड़-अंगों को सचेष्ट करने के लिए चैतन्यभूत आत्मा अपेक्षित होता है। अब 'शब्द' को तो आत्मा मान नहीं सकते उसकी स्थूलता तथा सर्वजनसंवेधता के कारण। आत्मा को तो शरीरापेक्षया अत्यन्त सूक्ष्म, अदृश्य तथा मात्र अनुभवसंवेध होना चाहिए। यह गुण शब्द में ही प्रत्युत्त अर्थ में ही होता है। अर्थ ही सकल जन-संवेध नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो वैदिक तथा शास्त्रीय वाक्यों में भी वाक्य व्यपदेश होता। परन्तु ऐसा कहाँ होता है? वैदिक तथा लौकिक वाक्यों (वार्तादि) को हम काव्य नहीं मानते फिर वह कौन सा अर्थ है जो 'काव्यात्मा' माना जा सकता है? इसी प्रश्न का

उत्तर आचार्य आनन्दवर्धन देते हैं ग्रन्थ की दूसरी कारिका से—योऽर्थः साहृदयश्लाघ्यः लावण्यस्थानीय, विरलजनसंवेद्य प्रतीयमानार्थ को सर्वजन संवेद्य वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न ही होता है— शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यमित्युक्तम्। तर्हि तदनुप्राथकेन केनचिदात्मना भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीर भाग एवं सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात् स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिक वैदिकवाक्येषु तदनावात्। लोचनम् (प्रथमोद्योतः)

परन्तु अर्थ कावे काव्यात्मा बताते हुए लोचनकार पाठकों को सावधान करते हैं कि ‘तस्य भेदावभो स्मृतौ’ से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दोनों ही अर्थ (वाच्य एवं प्रतीयमान) काव्यात्मा होते हैं। वस्तुतः काव्यात्मा तो सहृदयश्लाघ्य प्रतीयमानार्थ ही होता है। (वाच्यार्थ कथमपि नहीं) परन्तु हाँ, चूँकि वाच्यार्थ ही सामर्थ्य से ही व्यंग्यार्थ अश्लिष्ट होता है अतएव उसे ध्वनिकार भवन की भूमिका के समान व्यङ्ग्यार्थ का अंग ही मानते हैं। उनके ही शब्दों में—

लोचनकार भी उसी रहस्य को सुस्पष्ट करते हैं— अतएव अर्थ इत्येकतयोपकम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतु ममिधाय, अपोद्धारदृशा तस्य द्वो भेदौ अंशावित्युक्तम्। न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्य।

—लोचनम्।

वाच्यार्थ काव्यात्मा नहीं है, परन्तु है वही मूसलाधार प्रतीयमानार्थ का।<sup>3</sup> अतएव उसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि भूमि ही न होगी तो भवन बनेगा कैसे? इसलिये लोचनाकार कहते हैं— यद्यपि हि ध्वनतं हि शब्दस्यैव व्यापारः। तथाप्यर्थसायस्यस्य सहकारिणः सर्वथाऽनापायाद् वाच्यसामर्थ्यक्षिप्तं तस्य। शब्दशक्तिमूलानुरणन व्यङ्ग्येऽपि अर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानाडवगतिः, शब्दशक्तिः, केवलमवान्तरकारिणीति। लोचनम् (प्रथमोद्योतः)

लोचनकार बताते हैं कि यद्यपि काव्यात्मा व्यंग्यार्थ ही है जो स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता। तथापि उसके दो रूप ऐसे हैं (वस्तु एवं अलंकार) जो व्यङ्ग्य स्थिति में आने से पहले वाक्य भी हुआ करते हैं। अतः पुराने प्रत्ययिज्ञान के आधार पर उन्हें वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि के नाम से बोधित किया जाता है— ब्राह्मणश्रमण न्याय से (अर्थात् जैसे श्रमण (अर्थात् जैसे श्रमण धर्म अपनाते वाले ब्राह्मण को भी ब्राह्मण के रूप में ही पहचाना जाय,

यद्यपि जब वह ब्राह्मण नहीं प्रत्युत श्रमण मात्र है) परन्तु जो व्यंग्यार्थ मात्र अनुभवरूप-संवेदनारूप होता है वह तो साक्षात् रस ध्वनि ही है-

तत्र प्रतीयमानस्य द्वौ भेदौ लौकिकः काव्यव्यापारैक गोचरश्चेति। लोकिको, यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिरोते। सत्र विधिनिषेधाद्यनोकप्रकारो वस्तुशब्दनोच्यते। सोऽपि द्विविधः।

यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपज्वादिस्वरूपतयादन्वभूत् इदानीं त्वनलंकार रूप एवाऽन्यत्र गुणी भावाभावात्-स पूर्वप्रत्यभिज्ञान लादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणेश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपताक्षितं वस्तुमात्र मुच्यते। मात्रग्रहणोऽनिरूपान्तरं निराकृतम्।

लोचनम्।

अब प्रश्न यह है कि ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन प्रतीयमानार्थ को ही काव्यात्मा क्यों मानते हैं? उसका सटीक उत्तर यही है कि चूँकि उनकी दृष्टि में परमार्थतः अर्थ ही काव्य है अतएव उसका आत्मतत्त्व भी कोई अर्थ ही होगा। शरीर तथा आत्मा में भी सजातीयता होनी ही चाहिए। अग्नि की आत्मा कोई दहनजातीय तत्त्व ही होगा, जलजातीय तत्त्व नहीं। इस तथ्य को ध्वनिकार ने स्पष्टतः संकेतिक भी किया है कि जैसे विबुधोधान (नन्दनवन) का प्राणतत्त्व (आत्मतत्त्व) कल्पवृक्ष होता है ठीक उसी प्रकार की आत्मा ध्वनि (प्रतीयमानार्थ/प्रतीयमानार्थ-प्रधान काव्य) है-

अत्यक्तिष्टरसाश्रमोचितगुणालङ्कारशोभामृतो

यस्माद वस्तु समीहितं सुकविमिः सर्वं समासाद्यते।

काव्यारव्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दशितः

सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमाभोऽमोस्तु भव्यातमनाम्॥

-ध्वन्या ४.२५

वस्तुतः यह तथ्य निर्विवाद है कि शब्दार्थ की समष्टि ही काव्य है, शब्द या अर्थ कोई एक नहीं। संस्कृति के अनेक आचार्यों (भामह, समाटादि) ने यही मत जाना है। आचार्य कुन्तक ने तो बड़ी स्पष्टता से कहा कि जैसे तेल प्रत्येक तिल से उत्पन्न होता है न कि गिने-चुने तिलों से (प्रतिलिलप्रिव) तैलम् उसी प्रकार काव्य प्रत्येक शब्द एवं अर्थ से उत्पन्न होता है, मात्र शब्द अथवा अर्थ ही नहीं।<sup>१</sup>

इस निष्प्रयात्मक स्थापना के बाद भी दण्डी एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दमात्र की

कज्ञवयता के प्रति तथा विश्वनाथ महायात्रादि ने अर्थमात्र की काव्यता के प्रति अपना स्वास्थ्य प्रकट किया है।

इस सन्दर्भ में आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तपाद, व्याप्तादिक स्तर पर अत्यन्त उपादेय चर्चा करते हैं। इन दोनों आचार्यों का मत कुछ इस प्रकार है—

(क) चूँकि शब्द का स्वरूप सुनिश्चित होता है परन्तु उसके अर्थ का नहीं, अतएव काव्यता का नियामक अर्थ ही है। गंगायां घोषः का संकेतार्थ कौन नहीं जानता ? परन्तु गंगायां घोषः गंगारते घोषः सरीखा लक्ष्यार्थ तथा शैल-पावनत्वसरीखा व्यङ्ग्यार्थ भी प्रदान कर सकता है, इसे कौन जानता है।

मात्र कोविद एवं सहृदय ही इस विलक्षण अर्थ को जानने में समर्थ हैं। ऐसी स्थिति में अर्थ ही काव्य का मानदण्ड है।

(ख) सार अर्थ काव्य नहीं होते हैं। वैदिक तथा लौकिक अर्थ भी होते हैं। परन्तु उनमें काव्यव्यपदेश नहीं होता है। अतएव वाच्य हो सकता है।

(ग) प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ तो होता ही है। परन्तु कारण क्या है कि सारे अर्थ सहृदय-श्लाघ्य नहीं होते। कुछ तो 'वार्ता-मात्र' बन कर रह जाते हैं। उसका निष्कर्ष यही है कि वैलक्षण्यं अथवा चमत्कार मूलतः अर्थ में ही होता है, शब्द में नहीं। अतएवं अर्थ ही काव्यत्व का हेतु मान्य है।<sup>१</sup>

(घ) अर्थावगति के अनन्तर ही पाण्ड को काव्य में प्रत्युक्त गुण, रीति, वृत्ति, दोष, रस, पाक, प्रौढि, वाच्यता, लक्ष्यता एवं व्यङ्ग्यता (ध्वनि) आदि के प्रयोग का ज्ञान हो पाता है अतः अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त है न कि शब्द। इस प्रकार व्यवहारिक स्तर पर अर्थ ही काव्य सिद्ध होता है।<sup>२</sup>

(ङ) ध्वनिकार निरन्तर काव्यपर्याय के रूप में अर्थ शब्द का ही प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ—

१. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः.....वुमौ स्मृतौ॥ध्वन्या २.२
२. सरस्वती स्वादु तदर्धवस्तु.....मिवाङ्गनासु॥ध्वन्या १.६
३. काव्यस्यात्मा स एवाऽर्थस्तथा.....मागतः॥ध्वन्या २.५
४. वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वैरेव केवलम्॥ध्वन्या २.६
५. सोऽर्थस्तदव्यक्तिसामर्थ्यं.....महाकवेः॥ध्वन्या २.८
६. तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः.....वभासते॥ध्वन्या: २.१२

७. यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुप .....कथितः॥ ध्वन्या २.१३

इन प्रयोगों से सुस्पष्ट है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि से अर्थ सम्पत् ही मूलतः काव्य है तथा उसका अनुप्राणक (Excellence) होने के कारण ध्वनि अथावा प्रतीयमानार्थ ही काव्यात्मा है।

आनन्दवर्धन यह भी मानते हैं कि आत्मा में अनुप्राणन का सामर्थ्य होना चाहिये अतति व्याप्नोतीति आत्माः मानव शरीर में भी विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मा में अनुप्राणन का गुण है। चैतन्यलक्षण आत्मा शरीर के समस्त जड़ अंगों चेतन बना देता है। सारे अंग-प्रत्यय सक्रिय (activate) हो उठते हैं। ठीक उसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ (Suggestive meaning) भी सम्पूर्ण निष्प्राण काव्य को प्राणवान् बना देता है।

अनुप्राणन की सामर्थ्य शरीरस्थानीय काव्यतत्त्वों में कथमपि नहीं होती। उसी आधार पर आचार्य आनन्दवर्धन रीति एवं अलंकार को काव्यात्मपद का अनर्ह सिद्ध करते हैं। रीति एवं अलंकार- दोनों ही काव्य के शरीर स्थानीय तत्त्व हैं। शरीर ही शरीर की आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों स्थूल हैं। सूक्ष्म, अदृश्य, अनुभवसंवेद्य मात्र होना चाहिए। ध्वनिकार बार-बार वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ का यही अन्तर समझाते हैं। वह व्यङ्ग्यार्थ को लावण्य से उपमित्र करते हैं। जैसे नारी-शरीर में उसके विविधाङ्गसौष्ठव-जनित स्थूल सौन्दर्य को तो सब लोग जान-पहचान लेते हैं परन्तु उससे सर्वथा व्यतिरिक्त सर्वकलेवरव्यापी लावण्य को विरले (नागर) जन ही अनुभव कर हैं ठीक उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ की पहचान भी महाकवि (सहृदय) ही कर पाते हैं—

शब्दार्थ शासनज्ञानमात्रेणैव वेद्यते।

वेद्यते सतु व्याव्यार्थतत्त्ववैरवे केवलम्॥

सोदर्थस्तद्वक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थो महाकवेः॥ ध्वन्या १.७.८

यदि काव्यात्मभूत प्रतीयमानार्थ भी वाच्यरूप ही होता (संकेतित अर्थ के समान) तो फिर वाच्य-वाचकरूपपरिज्ञान से ही उसकी प्रतीति हो जानी सम्भव थी। परन्तु ऐसा है नहीं। यही कारण है कि केवल किन्तु काव्यतत्त्वार्थ की भावनाव से विमुख अ-सहृदयों को वह व्यङ्ग्यार्थ उसी प्रकार समझ में नहीं आता जैसे अग्रगीत संगीत लक्षणवेदियों को स्वर-श्रुति आदि के लक्षण समझ में नहीं आते।

सोऽथो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वतैरेव तायते। यदि च तीतिः स्यात्। अथ च

वाच्यवाचक लक्षणमात्रकृ तश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थाभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणपिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवःसावर्थः। ध्वन्या (वृत्तिः)

व्यङ्ग्यार्थ की इसी विलक्षणता के कारण ध्वनिकार यहाँ तक कह देते हैं कि - व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुलाव्यां यहा कवित्वलाभा महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण। वृत्तिः।

जैसे रमणीलावण्य, विविधाङ्गसौष्ठव-जनित, दर्शनेन्द्रिय मात्र परितृप्तिकारक सौन्दर्य से सर्वथा व्यतिरिक्त एक शरीरव्यापी विलक्षणतत्त्व है जो मन को भी तृप्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ भी! यह केवल महाकवियों की ही वाणी में विद्यमान होता है-

सरस्वती स्वादु तदर्शवस्तु निःष्यन्माना महतां कवीनाम्

अलोक सामान्य मनिव्यक्ति परिस्फुटल प्रतिभाविशेषम्॥

तद् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तामभिव्यनक्तियेनास्मिभतिविचित्रपरम्परावातिति संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते। - ध्वन्या (वृत्तिः)

जैसे रमणीलावण्य, विविधाङ्गसौष्ठव जनित, दर्शनेन्द्रिय मात्रपस्तृप्तिकारक सौन्दर्य से सर्वथा व्यतिरिक्त एक शरीर व्यापी विलक्षणतत्त्व है जो मन को भी तृत्व कर देता है, ठीक उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ भी! यह केवल महाकवियों की ही वाणी में विद्यमान होता है-

सरस्वती स्वादु तदर्शवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।

अलोकसामान्यभव्यक्ति परिस्फुटना प्रतिभाविशेषम्॥

तद् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्माना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तामभिव्यनक्तियेनास्मिभतिविचित्रपरम्परावातिति संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते। - ध्वन्या १.६ (वृत्तिः)

आश्चर्य है कि आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा इतनी विश्वसनीयता, तात्त्विक विश्लेषण एवं पार्यन्तिक (Exhaustive) समीक्षा के साथ विवेचित किये जाने पर भी कुन्तक एवं प्रहिमभट्ट जैसे प्रखरमति आचार्य प्रतीयमानार्थ को न समझ सके, न ही ग्रहण कर सके और न ही उसका कोई पर्याय प्रस्तुत कर सके। आचार्य कुन्तक ने तो मानो प्रतिपद ध्वनिकार की ही नकल की। वाचक, घोतक, व्यञ्जक शब्दों की सत्ता भी मानी। परन्तु अन्ततः उत्तर आय

विचित्रअभिधा पर, जो उपहासास्पद स्थापना है। व्याकरणशास्त्र की अवमानना है।<sup>७</sup>

अभिधा 'अभिधा' होती है, उसका एक सुनिश्चित व्याकरण सम्मत लक्षण है। (शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्भ व्यापराभावः) तो फिर 'विचित्रैवाऽभिधा सा' कैसी? यानि व्यञ्जना से चिह्न है तो विचित्र अभिधा का आविष्कार करेंगे? शतपत्रभेदनन्यायेन व्यङ्ग्यार्थ ले आयेंगे? और वह भी अभिधा के ही दीर्घदीर्घतर व्यापार हो? यह व्यापार क्या है? किस वैयाकरण ने इसकी स्थापना की? कब की? यही मूढताघोतक निर्बन्ध तो आचार्य धनञ्जय का भी है— **यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्।**

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने युग तक विद्यमान सम्प्रदाएँ उनकी समीक्षा आकाशविस्तृत एवं सागर गभीर है। उनकी विनम्रता तथा अनुत्तरणीय तर्कनिष्ठ स्थापना का क्या कहना? साक्षात् वृहस्पति को भी समझाने तथा अनुगत बना लेने की क्षमता है उनमें। यही कारण था कि ध्वनिस्थापना के बाद रीति तथा अलंकार की चर्चा ही बन्द हो गई सदा सदा के लिए। इसलिए कि ध्वनिकार ने 'अलंकार ध्वनि' का स्वरूप सौन्दर्य है, कि वह काव्य शोभाधायक काव्य का अस्थिर-बाह्य धर्म भी है, कि वह सन्ध्यंग-वृत्त्यंग-लक्षणादि सब कुछ है। अन्त करके। ध्वनिकार ने केवल एक विकल्प दिया कि यदि अलंकार वाच्यार्थमात्र है तो वह केवल काव्य का शरीरस्थानीय तत्त्व है। वह शब्दार्थ का बाह्यशोभाधायक अस्थिर धर्म है। परन्तु यदि वह काव्यात्भूत प्रतीयमानार्थ है तो ब्राह्मणश्रमण न्यायेन अलंकाध्वनि है तो काव्यात् है। ध्वनिकार ने सिद्ध कर दिया कि आचार्य उद्भट तथा वामनादि सभी पूर्ववर्ती शब्द के अमुख्य व्यापार के रूप में प्रतीयमानार्थ को जानते थे। यह बात और है कि उन्होंने न तो गुणवृत्ति कावे व्यञ्जना कहा और न ही भा को व्यङ्ग्यमार्थ!

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिमिर्गुणवृत्तिः अन्यो वा न काश्चित् प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्याकाव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लाक्षितः। वृत्तिः।

लोचनकार ने इस गुत्थी को पूर्णतः सुलझा दिया है यह बता कर कि अपने उद्भटविवरण (टीका) में आचार्य भामह के वाक्यांश — **शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः में अभिधानार्थ का मुख्यो गुणवृत्तिश्च।**

इसी प्रकार वामन ने भी साहस्यात लक्षणा वकोत्तिः (काव्यालंकारसूत्रम् ५.३.८) कह कर ध्वन्यर्थ से अपना परिचय प्रकट किया इन पंक्तियों के पाठकों ने यथालिखित पढ तो



लिया परन्तु अभिव्यक्ति के मर्म को समझने की चेष्टा तक नहीं की। यह तो वैसा ही हुआ कि कोई कि कोई यदि नारियल को तोड़ न पाये तो जैसा का तैसा छोड़ दे। महामहेश्वर अभिनव चुटकी लेते हैं-

**मनाक्स्पृष्ट इति! तैस्तावद ध्वनिदिगुन्मीलिता, यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपं विवेका न कृतः, प्रत्युतोपालभ्यते अमग्ननारिकेलवटु यथाश्रुत तद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति- लोचनम्।**

यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्तवाद मम्मट तथा अन्यान्य सभी ध्वनिकारानुगत ध्वनिवादी आचार्य अलंकार को (अलंकारध्वनि के रूप में) काव्यात्मा मान चुके हैं। प्रतीयमानार्थ के रूप में वस्तु, अलंकार एवं रस-तीनों की काव्यात्मा है तथापि वर्तमान शताब्दी के कुछ आचार्य अपने वैयक्तिक अलंकारसम्प्रदायों के साथ समीक्षाक्षेत्र में आए हैं। इस नवोप का दो ही अभिप्राय हो सकता है-

१. मा तो अर्वाचीन ध्वनिकार के अलंकारविषयक मतों,

स्थापनाओं तथा विवेचनों से पूर्णतः। अंशतः असन्तुष्ट है। असन्तोष के ही कारण व्यक्ति नवोप मार्थ प्रोद्यत होता है।

२. या फिर इन आचार्यों को अलंकारविषयक कोई ऐसी सामग्री मिल गई है जो ध्वनिकार के बाद (नवम् शती ई.) अर्थात् पिछले ग्यारह सौ वर्षों में मध्यवर्ती आचार्यों को नहीं मिल पाई थी। अब पथ्यभूत उस सामग्री का प्रकाशन अनिवार्य हो गया है।

ऐसे दो अलंकारवादी आचार्य सम्प्रति चर्चित हैं- संस्कृतजगत् के शलाकापुरुष 'सनातन' प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी तथा प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी। प्रो. द्विवेदी ने काव्यालंकारकारिका के अनन्तर अलंब्रह्म आदि अनेक काव्य शास्त्रीय लघुग्रंथों का प्रकाशन किया है। वह अलंकार-तत्त्व को काव्यात्मा तो मानते ही है उसे ब्रह्म-पर्याय भी मानते हैं।

इस सन्दर्भ में केवल इतना ही चिन्तनीय है कि अलंब्रह्म की स्वीकृति के बाद 'रसो कै सः' तथा 'आनन्दो वै रसः' का क्या होगा? यह इस की ही तरह अलंकार को भी (आनन्दवर्धक को झुठला कर) ब्रह्मा नन्दसहोदर कहेंगे? यदि कहना चाहेंगे तो ध्वनिकार (अलंकार ध्वनि के रूप में) नवीं शती ई. में ही कह चुके हैं।=

आचार्य राधावल्लभ जी अलम् के अर्थमय (वारण, भूषण, पर्याप्ति) में से भूषण के साथ पर्याप्तिपरक अर्थ को भी अलंकार मात्र को देना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में

पूर्णता ही अलंकार है और अलंकार की काव्य है। त्रिपाठी जी ने अलंकार विषयक पाँच नहीं होता कि काव्य की पूर्णता से आचार्य का अभिप्राय क्या है ?

यहाँ दो उत्काण्ठाएँ उठनी स्वाभाविक हैं—

१. क्या प्रो. त्रिपाठी सम्मत काव्य की पूर्णता आचार्य दण्डी वाली 'पूर्णता' है जिसमें काव्य (दृश्य भी, श्रव्य भी) से जुड़े सभी छोटे-बड़े वैशिष्ट्य अलंकार मान लिये गये हैं ?
२. यह भी उत्काण्ठा है सहृदयों की कि यदि अलंकार से ही काव्य की पूर्णता सम्भव है तो (कुन्तक की) वक्तोति से क्यों नहीं ? आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य से क्यों नहीं ?

वस्तुतः आवश्यकता है काव्य की पूर्णता समझने की। काव्य पूर्ण या सांगोपांग या पर्याप्त (अलम्) कब होता है ? जब उसका अभिप्राय (= काव्यार्थ) पार्यन्तिक (Exhaustive) हो। वाच्यार्थ प्रधान काव्य में वाच्यार्थ ही पार्यन्तिक। पूर्ण होता है। परन्तु लक्ष्य ? प्रधान अथवा व्यङ्ग्यार्थप्रधान काव्य में वही वाच्यार्थ 'अपूर्ण' अथवा बाधित बन जाता है। महामहेश्वर अभिनवगुप्तपाद तथा अम्प्रदादि ने बड़ी सतर्कता के साथ काव्य की पूर्णता का व्याख्यान किया है। यह पूर्णता त्रिपक्षीय है जिसे इस चित्र से समझा जा सकता है—  
काव्यार्थ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ— कोई भी हो सकता है। अनुभवसंवेध, सहृदयश्लाघ्य तथा काव्यात्ममूतमानते हैं।

काव्य से जुड़ा दूसरा पक्ष है रचनाकार कवि। प्रत्येक कवि का अपनी काव्यरचना में विशिष्ट कोटिकप्रयत्न होता है जिसे शास्त्र की भाषा में कविसरम्भ (Effort of the poet) काव्य को तभी पूर्ण माना जायेगा जब उसमें कवि का संरम्भ गोचर (प्रत्यक्ष) हो रहा हो। उदाहरणार्थ—

**पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !**

विलसत्केरणुगहनं सम्प्रति (प्रयत्न) वाच्यार्थ—प्रतिपादन देख लेना। पहचान लेना ही इस कविता की पूर्णता है यदि कोई श्लेष परक इस काव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' ढूँढने लगे तो वह उसकी मूर्खता होगी क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के प्रति यहाँ कवि का प्रयत्न है ही नहीं। परन्तु,

**उपकृतं बहुत्र किमुच्यते सजनता प्रथिता भवता परम्।**

**विदधहीदृशमेव सदा सखे! सुखित आस्व ततश्शरदां शतम्॥**

यह विपरीत लक्षणा का पद्य है और उसी के प्रतिपादन में यहाँ कवि का सारा प्रयत्न है। यदि कोई इसके वाच्यार्थ—मार्थ से सन्तुष्ट हो जाय तो वह अ-सहृदय (हतबुद्धि) ही माना जायेगा। यहाँ प्रत्येक शब्द अपना विपरीत अर्थ प्रदान कर रहा है। वह विपरीतार्थ ही पूर्णता है

इस पद्य की अब इस कविता में पढ़े—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा भृङ्गा रक्षाक्तमुकुलानि समाश्रयन्ते संकोचप्रश्रुति  
सरस्वयादीनदीनो मीनो नु हन्तुकतयां गति प्रम्युपैतु ॥

इस पद्य में कवि का संरम्भ न वाच्यार्थ के प्रतिपादन में है, न ही लक्ष्यार्थ के। यहाँ तो सारे शब्द अपने वाच्यार्थों को तथा अर्थ स्वयं को उपसर्जित कर (गौण बना कर) समन्वित रूप से किसी विलक्षण अर्थ को प्रकाशित कर रहे हैं जो वाच्य अथवा लक्ष्य नहीं, प्रत्युत व्यङ्ग्य हैं—

**यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थों।**

**व्यङ्गतः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिधिः, कथितः॥**

वाच्यार्थदृष्ट्या तो यह कविता किसी सूखते सरोवर का वर्णन करती है। परन्तु व्यञ्जनया यह किसी दुर्दशापन्न सत्पुरुष को विचित्र कर रही है। इस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ ही कवि संरम्भ का विषय है। उस व्यङ्ग्यार्थ को ढूँढ लेना ही इस कविता की पूर्णता होगी।

अब, काव्य से जुड़ा तीसरा पक्ष है—पाठक जिसे बोद्धा, रसयिता, सचेतस् अथवा सहृदय भी कहते हैं, काव्यानन्द का वास्तविक अधिकारी सही

काव्यानन्द का वास्तविक अधिकारी यही सहृदय भी कहते हैं। काव्यानन्द का पाठक जिसे बौद्धा, रसमिता, सचेतस् अथवा सहृदय है जिसे आचार्य अभिनवगुप्त परिभाषित करते हैं—येणां सततानुशीलनाभ्यावशाद् विशदीओ मनोमुकुरे वर्णनीयतनायीभवन योग्यता ते स्वहृदय संवाद आजस्सहृदयाः। लोचनम्

जिसके मनदर्पण पर अज्ञान की धूल, पर्त दर पर्त, जमा है शब्द का संकेतार्थ ही नहीं ज्ञात तो वाच्यार्थ—व्यङ्ग्यार्थ का बोध कैसा ? की चित्तविश्रान्ति को प्रमाण माना जाय। सहृदय का चित्त किसी भी काव्य में तभी विश्रान्त होगा जब वह कविप्रयन्त से प्रतिपादित अर्थ को गोचरता होगी, वही पाठक की चित्तविश्रान्ति भी होगी और वहीं काव्या रसभूत व्यङ्ग्यार्थ भी होगा। काव्य से जुड़े इन तीनों तत्त्वों की अन्विति में ही निहित है काव्य की पूर्णता: काव्य की मानार्थ से ही शक्य है अन्यथा नहीं। हाँ यदि अलंकार से ही काव्य की पूर्णता मानने का व्यामोह हो तो यह व्यङ्ग्य अलंकार से ही काव्य की पूर्णता मानने का व्यामोह हो तो यह व्यङ्ग्य अलंकार अर्थात् अलङ्कारध्वनि से भी मानी जा सकती है।—

११ मार्च २०१७ ई.

प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र पूर्वकुलपति

सन्दर्भ

1. वक्ताभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः (भामसा 01.36)

न कान्तमपि निर्भूषणं विभाति वनिताऽननम्।

काव्यशोत्रायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्तत्त्वलङ्काराः।

—काव्यालंकारसूत्रम् 3.1.1.,

2. यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमूपादिस्वरूपतयाऽन्वभूत इदानीं त्वनलङ्काररूप एवाऽन्यत्र गुणीभावाभावात् स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यामेन।

—लोचनम्।

3. भूमिरिव भूमिका। यथा अपूर्वनिर्माणे चिकिर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्यामिधानं भूमिः, तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानाशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यपहन्वनीयत्वं प्रतिपादयितुम्।

—लोचनम् (कारिका)

4. शब्दार्थो काव्यं, वाचको वाच्यपूचेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेव्यमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केनचित्प्रत्ययमन्तं कविकौशलकल्पितकमनीयताऽतिशयः शब्द एवं केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद्वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद्द्वयोरपि प्रतितिलपिक तैलं तदिवदाहलादकारित्वं वर्तते न पुनरेकास्मिन्निति। तत्र कस्य वा विप्रतिपत्तिः ?

वक्तोक्तिजीवितम्

5. ए एक एवार्थो द्विशाखताया विवेकिधर्विबुद्ध्या विभज्यते। तथा हि— तुल्येऽर्थरूपत्वे व्यिमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद् भक्तिव्यं तत्र केनचिद् विशेषण। यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकिमिश्रेण हेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते चार्वाकैरिवात्वपृथग्भावे।

—लोचनम् (कारिका-2)

5. शब्दार्थसाहिती काव्यं यद्यपीह सुनिश्चितम्।  
परमार्थस्तथाऽप्यत्र प्रेक्षावच्चिन्तिरूप्यताम्॥  
काव्यप्रमुक्तशब्दानां केवलं पठनेन चेत्।  
जायेत चित्तविश्रान्तिश्शब्दानां तर्हि काव्यता॥  
किन्तु नैनं भवत्येव शब्दैश्चित्तं न रञ्ज्यते।  
केवलं जायते तैस्तु श्रुतिरन्ध्रानुरञ्जनम्॥  
काव्यप्रयुक्तशब्दानामप्यर्थवगमाहते।  
क्व नु सा चित्तविश्रान्तिः काव्याजन्दोऽप्यसौ कुतः॥  
तस्मात्काव्यार्थ एवाऽसौ जायते परमार्थतः।  
काव्यतद्विग्रहो वापि प्रमाणं रसिकाः स्वयम्॥

—अधिराजयशो. आत्म. 61.4

6. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।  
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥  
शब्दो विवक्षितार्थकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।

अर्थ: सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः॥

यो वाचकः स शब्दः, यो वाच्यश्चामिधेयः। सोऽर्थइति। ननु च द्योतक व्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः। तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः। यस्मार्थप्रतीतिकारित्व सामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्याद् वात्यत्वमेव। तस्माद्वाचकत्वं वाच्यत्वञ्च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं तथाऽप्यस्मिन् अलौकिके काव्यीगोके कविकर्मवर्त्मनि अयतेययेवेक्ष्यमाण लक्षणः परमार्थः किमप्यपूर्वतत्त्वमित्यर्थः।—वक्तोक्ति 01.8 (वृत्तिः)

8. ब्रह्मसायुज्यसुखानुभूति निश्चय ही आनन्दात्मिका है। इसीलिये उपनिषदों में 'आन्नदो वै सः' कहा गया। ब्रह्म को 'रसो वै सः' कहने का सीधा तात्पर्य यही है कि रस तथा आनन्द मिथः पर्यायभूत हैं। रस की आनन्दात्मकता उसके चर्वणा- व्यापार में निहित है। चर्वणा किसकी? विभावानुभावसञ्चादि- सम्पोषित (अपने) स्थायी भाव की।

लोक में भी मधुर, तिक्त, लवण, अम्ल तथा कषायादि रसों का अनुभव पक्वानों के चर्वण से ही सम्भव हो पाता है। भोजन को चबाने पर ही जिह्वा उसका स्वाद (रस) ग्रहण कर पाती है।

परन्तु अलंकार का चर्वण कैसे करेंगे? उसमें तो विभावादि पोषक अंग हैं नहीं। प्रत्युत वह तो स्वयं विभावरूप है। अब, यदि उसकी चर्वणा सम्भव नहीं तो रसरूपता तथा ब्रह्मरूपता भी सम्भव न होगी।

वस्तुतः प्रतीयमानार्थ बन कर ही अलंकार की रसरूपता सिद्ध होती है जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है। वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों का भी पर्यवसान अन्ततः रस में ही होगा। उस स्थिति में ही 'अलंब्रह्म' की भी सार्थकता सिद्ध होगी।

## समाज संरचना की वैदिक परिकल्पना की वैज्ञानिकता

*Dr. Prabhawati Chowdhary*

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। पुरुषार्थ चतुष्टय को मनुष्य जीवन का प्रयोजन मानने वाली ऋषि परम्परा ने मोक्ष को परम पुरुषार्थ स्वीकार किया। तदनुरूप ही मानव जीवन एवं समाज कावे सुविकसित, सुदृढ़ करने के लिए आश्रम व्यवस्था, संस्कार, वर्णव्यवस्था, पंचमहायज्ञ, त्रिऋण आदि महत्त्वपूर्ण विषय मानव जीवन एवं समाज के विभिन्न एवं अनिवार्य अंग बनें। ऐतरेय ब्राह्मण का वचन है—

**चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।**

**सूर्यस्त पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥<sup>1</sup>**

उपर्युक्त मन्त्र सूर्य के दृष्टान्त से संचरणशीलता का महत्त्व प्रतिपादित करता है साथ ही सञ्चरणशील आवश्यक है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मधु का निरूपण इस प्रकार है—

पृथ्वी, आपः, अग्नि, वायुः, आदित्यः, दिशः, चन्द्रः, विद्युत, स्तनयित्नुः, आकाशः, धर्मः, सत्यं, मानुषम्, आत्मा च सर्वेषां भूतानां मधु।

उपर्युक्त उद्धरण समस्त प्राणियों के लिए जिस मधु को निर्दिष्ट कर रहा है वह वस्तुतः समस्त पर्यावरण एवं मनुष्यत्व व अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है।

वस्तुतः मनुष्य मात्र को पूर्णता प्रदान करना सकल वैदिक चिन्तन का मूल है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक उन्नति के लिए उपर्युक्त मधु प्राप्ति सञ्चरणशीलता से मूर्त हो सकती है।

समाज जीवन की दृष्टि से भी यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि समाज इस मधु-प्राप्ति एवं संरक्षण के लिए निरन्तर अपने मूल्यों को परिमार्जित करें।

### समाज का स्वरूप

वस्तुतः समाज सह-अस्तित्व की संकल्पना का मूर्त रूप है। यह सह-अस्तित्व मनुष्य के समग्र विकास के लिए आवश्यक है। समाज शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी सह-अस्तित्व एवं सञ्चरणशीलता को द्योतिक करता है—

सम् उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक अज् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न समाज शब्द का

अर्थ है एकीभाव या एक उद्देश्य से गमन। ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में इस सह अस्तित्व को सम्यक् बनाने का रहस्य निर्दिष्ट है—

‘आप सभी संगमन अर्थात् मिलकर गमन करें, सहवचन अर्थात् परस्पर विरोध को त्यागकर एक वाणी बोले, आपके विचार एक समान हो, आपका संकल्प एक समान हो।’<sup>9</sup>

जीवन को मधुशाली के लिए सह-अस्तित्व का सम्यक्त्व आवश्यक है ताकि जीवन की सञ्चरणशीलता बनी रहे, समाज की सञ्चरणशीलता का भी मूल मन्त्र है- सह-अस्तित्व का सम्यक्त्व। इस सम्यक्त्व से ही कोई समाज विकसित, प्रोन्नत एवं समृद्ध समाज की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है।

सञ्चरणशीलता का सम्यक्त्व उपस्थापित करने के लिए आश्रम, संस्कार, महायज्ञ, वर्ण व्यवस्था समाज के महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किए गए। वस्तुतः मनुष्य एवं समाज परम्परापेक्षी है मनुष्य व्यष्टि है एसं समाज समष्टि है। अतः दोनों में अनेक समानताएँ प्राप्त हैं- दोनों में कुछ नित्य है व कुछ निरन्तर परिवर्तनशील है। निरन्तर परिवर्तनशील कोशों से युक्त होने पर भी जिस प्रकार मनुष्य मृत्युपर्यन्त उसी रूप में दिखाई देता है उसी प्रकार निरन्तर परिवर्तनशील व्यक्तियों से युक्त होने पर भी समाज की समग्रता बनी रहती है जिस प्रकार एक प्राणी के शरीर में विभिन्न कार्यों को सञ्चालित करने वाली संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से भी एवं परस्पराश्रित रूप से भी कार्य करती हैं, उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ भी सामाजिक विकास के प्रत्येक चरण में परस्पर सन्तुलन के माध्यम से कार्य करती हैं।

प्रत्येक समाज की एक सामूहिक चेतना होती है जो व्यक्तिगत चेतना से भिन्न होती है। किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्था के निमित्त जो व्यवस्थापक तत्त्व हैं वे तत्त्व उस व्यवस्था के मूल्य हैं इसमें राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, दार्शनिक सभी पक्ष सम्मिलित हैं एवं ये ही संस्कृति के संवाहक हैं।

अतः वैदिक परम्परा में मनुष्य रूप व्यष्टि एवं समाज रूप समष्टि की सम्यक् सञ्चरणशीलता के लिए स्थापित मूल्य ही आश्रम, संस्कार, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, वर्ण व्यवस्था, पंच महायज्ञ के रूप में शाश्वत धर्म बने। न केवल मनुष्य के समग्र विकास के लिए अपितु सुदृढ़ एवं सुविकसित समाज की अवधारणा के लिए इन मूल्यों को मनुष्य मात्र के लिए कर्तव्य रूप में उपस्थापित किया गया।

ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मनुष्य एवं समाज को परिष्कृत रूप प्रदान करने का मूल मन्त्र है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।  
तेन त्यक्तेन मुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद धनम्॥  
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।  
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥<sup>३</sup>

उपर्युक्त मन्त्र विवि-निषेध द्वारा लोभ से बचने एवं कर्तव्य कर्म में प्रवृत्त होने का निर्देश करते हैं। आसक्ति रहित जीवन इसका मार्ग प्रशस्त करता है। महाभारतकार वेदव्यास ने किसी भी समाज में वर्ग संघर्ष का कारण लोभ एवं अमर्ष को बताया है—

गणानां च कुलानां च संज्ञा भरतर्षम।  
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षो नराधिप॥<sup>४</sup>

पहले लोभ का चरण एक मनुष्य करता है तदनन्तर दूसरे के मन में अमर्ष उत्पन्न होता है। तब लोभ एवं अमर्ष से प्रभावित हुए व्यक्ति समुदाय, धन या जन की हानि उठाकर एक दूसरे के विनाशक बन जाते हैं।

अतः मनुष्य मात्र का यह कर्तव्य है कि समाज के विकास में निरन्तर योगदान करते हुए ही स्वविकास करे तभी तारतम्य उत्पन्न हो सकता है। आश्रय व्यवस्था एवं पंच महायज्ञ सामाजिक मूल्यों को प्रोन्नत करने तथा उनके द्वारा अपना सर्वांगीण विकास का पथ निश्चित करत हैं। इसी व्यवस्था को अनुस्यूत करते हुए समाज की संरचना की परिकल्पना की गई।

#### समाज संरचना की परिकल्पना

चूँकि समाज समष्टि रूप है एवं सामूहिक चेतना है अतः उसका रूप विराट है। इस विराट रूप की एक पुरुष के रूप में की गई है। संस्कृति के उत्कृष्ट स्वरूप की निर्वाहिका ऋषि परम्परा प्रत्येक जीवन एवं कर्म में अन्तर्निहित परमशक्ति को ही मूल आधार के रूप में उपस्थापित करती है। अतः समाज को एक पूर्ण पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित कर विभिन्न अंगों के रूप में चतुर्विध वर्ण विभाजन एवं सम्यक्, स्वरूप को निर्दिष्ट करता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।  
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥<sup>५</sup>

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र रूप चार वर्णों को पुरुष के चार महत्वपूर्ण अंगों के रूप में निरूपित करना एक मनोवैज्ञानिक आधार है। चूँकि अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण सृष्टि को उस परम पुरुष का ही विस्तार मानती है अतः प्रत्येक प्राणी में उसका निवास है—



ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयदेशेऽर्जुन तिष्ठति।<sup>६</sup>

शथपथ ब्राह्मण में इसका विस्तार है—

ब्रह्म वै स्वयंभूः तपोऽतप्यत। ततः सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा  
भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्याधिपत्यं पश्यैत्॥<sup>७</sup>

वर्गीकरण का आधार

सामाजिक वर्गीकरण एवं स्तरीकरण एक सामान्य प्रक्रिया है जिसका मुख्य उद्देश्य समाज को व्यवस्थित, स्थिर, संघटित, सन्तुलित, दृढ़ एवं गतिशील बनाए रखना है। भारतीय समाज दर्शन में इसको वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा से अभिहित किया गया। समाज के नियम एवं प्रकृति का तालमेल इसमें प्राप्त है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था गुण-कर्म को आधार बनाकर प्रवृत्त हुई—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥<sup>८</sup>

महर्षि दयानन्द के अनुसार 'इसका नाम वर्ण इसलिए है जैसे जिसके गुण-कर्म हो, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए'<sup>९</sup>

वेदरीति से इसके दो भेद है

एक आर्य है व दूसरा दस्यु। इस विषय में प्रमाण है— 'विजानीहय्याभ्ये च दरस्यवां- 'अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि 'हे जीव! तू आर्य श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के दो भेद जान ले''<sup>१०</sup>

श्रीमद्भगवद्गीता भी इसका अनुसरण करती है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

दैवो विस्तरशः प्रोक्तं आसुरं पार्थ में शृणु॥<sup>११</sup>

अर्थात् लोक में भूतों की सृष्टि दो ही प्रकार की है- दैवी प्रकृति एवं आसुरी प्रकृति।

तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमानिता का अभाव दैवी सम्पत् है व दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य व अज्ञान आसुरी सम्पत् है।<sup>१२</sup>

इससे यह सिद्ध हुआ कि जाति की दृष्टि से मनुष्य एक हैं यह भी वेदसिद्ध है। महर्षि दयानन्द जाति की दृष्टि से सभी मनुष्य को एक जाति का ही स्वीकार करते हैं। महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है— 'वर्णाश्रम गुण कार्यों की योग्यता से मानता हूँ'<sup>१३</sup>

उन्होंने जाति आधारित वर्णव्यवस्था का पूर्णतया खण्डन किया व इसे निन्दनीय माना। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने गुण-कर्म के साथ स्वभाव को एक अन्य योग्यता के रूप में सम्मिलित किया - 'वर्ण व्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।'<sup>१४</sup>

गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र- ये चार भेद किये गये।'<sup>१५</sup>

महर्षि के अनुसार वर्ण द्वारा समाज का यह स्तरीकरण नीचे के स्तर से उच्च स्तर के वर्ण को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करेगा। तथा उच्च वर्णों को अपने वर्ण से नीचे के वर्ण का भय रहेगा तो वे अपने गुण-कर्म-स्वभाव को उत्तम रखेंगे।

वर्गीकरण वस्तुतः समाज का स्तरीकरण है

वेदोक्त वर्गीकरण का आधार त्रिगुणात्मक सृष्टि

पूर्व में निरूपण किया जा चुका है कि दैवी एवं आसुरी द्विविध ही सृष्टि है फिर चतुर्विध विभाजन का मूल क्या है ऐसा प्रश्न स्वाभाविक है गीता में त्रिगुणात्मक प्रकृति का विवेचन है—

अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।<sup>१६</sup>

इसका तात्पर्य है कि जीवात्मा तो परम चैतन्य का रूप है किन्तु गुणों के बन्ध से बन्धित हो विभिन्न रूपों में प्रकट होता है—

'सत्त्व गुण निर्मल, प्रकाश करने वाला व विकार रहित है। वह सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बाँधता है।'<sup>१७</sup>

रजोगुण कामना व आसक्ति से उत्पन्न है वह जीवात्मा को कर्मों एवं उनके फल के सम्बन्ध से बाँधता है।<sup>१८</sup>

तपो गुण अज्ञान से उत्पन्न है, सब देहाभिमानियों को मोहित करने वाला है तथा प्रमाद, आलस्य व निद्रा के द्वारा बाँधता है।<sup>१९</sup>

सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजो गुण कर्म में तथा तपोगुण ज्ञान को आवृत कर प्रमाद में लगाता है।<sup>२०</sup>

सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजो गुण कर्म में तथा तमोगुण ज्ञान को आवृत कर प्रमाद में लगाता है।

रजोगुण व तपोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण व तमोगुण को दबाकर रजोगुण एवं

सत्त्वगुणव रजोगुण को दबाकर तमो गुण बढ़ता है। इस प्रकार चतुर्विध विकल्प प्राप्त होते हैं—

१. सत्त्वगुण प्रधान                      २. सत्त्वमिश्रित रजोगुण प्रधान

३. रजःमिश्रित तमोगुण              ४. तमो गुण प्रधान

१. सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है अन्तःकरण एवं इन्द्रियों में चेतनता व विवेक शक्ति उत्पन्न होती है
२. रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ एवं सकामभाव से कर्म की प्रवृत्ति होती है। रजोगुण सत्त्वगुण का पूर्ण लय न करे तो विवेक की स्थिति भी बनी रहती है तथा विषयभोगों की लालसा होने पर भी आत्मनियन्त्रण रहता है।
३. परन्तु रजोगुण जब तमोगुण से मिश्रित हो जाता है तो लोभ-प्रवृत्ति के साथ स्वार्थबुद्धि, अशान्ति एवं विषयभोगों की तीव्र लालसा उत्पन्न होती है।
४. तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण व इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति व प्रमाद वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से गुणों से तरतमता रहती है। यही कारण है कि जिस गुण की वृद्धि हो मनुष्य तदनु रूप ही आचरण करता है। ऐसी स्थिति में यह समझना आवश्यक है कि जातिगत भेद मनुष्य में किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है। वर्ण भेद भी गुण एवं स्वभाव के अनुरूप कर्म के आधार पर है।

### वर्ण-व्यवस्था की वैज्ञानिकता

यद्यपि महर्षि अरविन्द एवं महर्षि दयानन्द जातिगत भेद स्वीकार नहीं करते परन्तु उन दोनों के चिन्तन के पक्षों की भिन्नता ने वर्गीकरण को भिन्न रूप में व्याख्यायित किया है। गुणों की तरतमता को तो महर्षि दयानन्द ने भी स्वीकार किया जो उनके अद्योलिखित मत से स्पष्ट होता है—

‘समाज का यह स्तरीकरण नीचे के स्तर से उच्च स्तर के वर्ण को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करेगा तथा उच्च वर्णों को अपने वर्ण से नीचे से वर्ण भय रहेगा तो व अपने गुण-कर्म व स्वभाव को उत्तम रखेंगे।

आपस्तम्ब के सूत्र को उद्धृत करने हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

“धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्णों को प्राप्त होता है और उस वर्ण का गिना जावे”<sup>३०</sup> स्त्रियों की भी तदनु रूप व्यवस्था समझनी चाहिए।

यद्यपि यह त्रिगुणात्मक व्यवस्था व मिश्रित व्यवस्था चैतन्य को उपहित करती है, इस विषय में श्री अरविन्द का चिन्तन सूक्ष्म व व्यापक है वे चेतना के स्तर के आधार पर विभाजन करते हैं

श्री अरविन्द के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द व सच्चिदानन्द की चेतना की प्रकृति का एक छद्मवेशी रूप है अतः वह चीज जिसमें उसकी शक्ति को हमेशा खोजना व पाना चाहिए वह है दिव्य आनन्द, सर्वव्यापक आनन्द। उन्होंने विश्व के रचयिता दिव्य पुरुष को चार श्रेणी में आबद्ध किया- सत्, चित्शक्ति, आनन्द व अतिमानस। उनके अनुसार यह अतिमानस भौतिक जगत् में सर्वव्यापक परन्तु पर्दे के पीछे रहता है एवं स्वयं को गुह्य रूप से प्रकट करता है। अपने कार्य सम्पादन के लिए अपनी गौण भूमिका मन का ही ग्रहण करता है।<sup>२१</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य का समस्त कर्म अन्तरात्मा की उपस्थिति व प्रकृति की क्रियाओं अर्थात् पुरुष व प्रकृति की ग्रन्थि है। पुरुष की उपस्थिति एवं उसका प्रभाव प्रकृति में हमारी सत्ता की एक विशेष शक्ति के रूप में अपने आप को प्रकट करता है प्रकृति में अभिव्यक्त आत्मा अन्नत गुणों के महासिन्धु के रूप में लीला करता दिखाई देता है यह कार्यवाहिका या यान्त्रिका प्रकृति सत्त्व, रजस् व क्रीड़ा इस यान्त्रिका प्रकृति में अपने स्वरूप को तीन गुणों के रूप में परिवर्तित कर देती है। मनुष्य की उपयुक्त आत्म-शक्ति में यह प्रकृतिगत भगवान् चार प्रकार की कार्यक्षम शक्ति में स्वयं को चतुर्व्यूह रूप में प्रकट करते हैं। ये चार शक्तियाँ हैं-

ज्ञान शक्ति, पौरुष शक्ति (क्षत्र-शक्ति), पारस्परिकता और सक्रिय एवं उत्पादन-व्यवसाय गत सम्बन्ध और आदान-प्रदान की शक्ति (वैश्य-शक्ति) और कार्य कलाप, श्रम व सेवा की शक्ति (शूद्र शक्ति)। भगवान् की उपस्थिति समस्त मानव जीवन को इन चार शक्तियों की ग्रन्थि तथा बाह्याभ्यन्तर क्रिया के रूप में ढाल देती है। श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीन भारत में मनीषी सक्रिय मानव-व्यक्तित्व और प्रकृति के इस विभेद से अभिज्ञ थे। अत एवं उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र रूपी चार वर्णों की सृष्टि की। इन वर्णों में से प्रत्येक का नियत कर्तव्य तथा आत्मा की विकास श्रृंखला में अपना विशेष स्थान होता था।<sup>२२</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार इन चार शक्तियों का अत्यन्त बाह्य मनोवैज्ञानिक रूप है- कुछ एक प्रबल प्रवृत्तियों, क्षमताओं व विशेषताओं की ओर सक्रिय शक्ति के रूप में मन और अन्तर्जीवन के गुण, सांस्कृतिक व्यक्तिगत या विशिष्टरूप की ओर प्रकृति का झुकाव या

उसका तदनुकूल गठन।

जैन दर्शन में आत्मा के चौहद गुणस्थानों का वर्णन भी आत्म-विकास की इसी यात्रा को प्रकट करता है। यद्यपि जैन दर्शन में ऋषि चिन्तन, श्री अरविन्द एवं स्वामी दयानन्द के सदृश आत्मा से भिन्न किसी परम चैतन्य को स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु आत्म चैतन्य के विकास-स्तर का सूक्ष्म-विचार किया गया। महात्मा बुद्ध ने भी आर्य एवं अनार्य रूप से मनुष्य की दो प्रकार की श्रेणियों का कथन किया तथा उनका भेद भी निरूपित किया—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।

अहिंसा सव्वपाणानं, अरियोति पवुच्चति।।<sup>३३</sup>

उपर्युक्त गाथा से स्पष्ट है कि प्राणियों की हिंसा करने वाले को बुद्ध आर्य स्वीकार नहीं अहिंसा धर्म को महत्त्व देते हुए समस्त प्राणियों की हिंसा न करने वाला ही आर्य कहा जाता है।

### वर्णधर्म

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्ण विभाजन का आधार स्वभाव, गुण व कर्म है। कर्म विभाजन का आधार प्रकृति प्रदत्त बल ही है— ब्राह्म बल, क्षात्रबल, विट्बल व शूद्र बल। इन चतुर्विध बलों की तरतमता के अनुरूप ही कार्य चयन करने से मनुष्य अपनी सम्पूर्ण क्षमता, निष्ठा, वैशिष्ट्य से कार्य पूर्णता द्वारा समाज के विकास को गति प्रदान करता है। जैसे कि हमने देखा सम्पूर्ण जगत् पुरुष एवं प्रकृति का विस्तार है एवं त्रिगुणात्मक प्रकृति ही इसके कार्य की साधिका है अतः गुणों की तरतमता से कार्य जगत् में अभिव्यक्त ये चतुर्विध बल एक विकसित, सुसंस्कृत व सुसंघटित समाज की आधारशिला है। अतः वर्णधर्मों का निरूपण भी दो प्रकार से किया गया— १. सार्ववर्णिक धर्म २. वर्ण विशेषगत धर्म।

महाभारतकार ने सार्ववर्णिक धर्म नौ बताएँ हैं—

अक्रोधः सत्यवचनं संविभाग क्षमा तथा।

प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।।<sup>३४</sup>

इन नौ वर्णधर्मों में संस्कार, शील एवं पञ्चमहायज्ञ रूप मूल्यों का स्पष्ट निर्देश है। इसका तात्पर्य है कि वैदिक ऋषि प्रज्ञा मौलिक कर्तव्यों में वर्णगत भेद स्वीकार नहीं करती मात्र विशिष्ट कर्म जिसके चयन का अधिकार मनुष्य के पास है वह अपने वीर्य (बल), प्रकृति एवं गुणों के अनुरूप यदि उस कर्म का चयन करे तो उसके स्वयं के विकास एवं समाज के विकास

में उपयोगी होगा।

ब्राह्मण आदि वर्णों का विशिष्ट कर्म इस प्रकार निर्दिष्ट किए गए<sup>२५</sup>—

ब्राह्मण – अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

क्षत्रिय प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

वैश्य – पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

शूद्र – एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषानसूयया॥

यद्यपि मनुस्मृति में कृषि वैश्य का विशिष्ट कर्म कहा गया परन्तु पाराशर स्मृति में कृषि कर्म को मनुष्यमात्र का धर्म स्वीकार किया गया—

कृषेरन्यतमो धर्मो न लभेत् कृषितोऽन्यथा।

न सुखं कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण कर्षति॥<sup>२६</sup>

कलियुग में पाराशर स्मृति का ही महत्व है। पाराशर कहते हैं कि कृषिकर्म को अपनाने से द्विज पातकी नहीं होता अपितु यज्ञ-अध्ययनादि स्व कर्मों के साथकृषि कर्म को अपनाना कलियुग में श्रेयस्कर है

बृहत्पाराशरस्मृति में भी यही निर्दिष्ट है—

**प्रथम कृषि-वाणिज्यं द्वितीय पशुपोषणम्।**

**तृतीय क्रीतविक्रीतं चतुर्थं राजसेवनम्॥<sup>२७</sup>**

इस प्रकार कृषि कर्म ही श्रेष्ठ कर्म रूप में प्रतिपादित किया गया व मनुष्य मात्र के लिए कर्तव्य कर्म के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।

**श्री अरविन्द का वर्णधर्म विषयक मत**

श्री अरविन्द वर्णों के धर्म का प्रतिपादन किञ्चिद् विस्तृतरूप में करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति ब्राह्म बल प्रकट होने पर मनुष्य जीवन व बुद्धि को आत्मिकसत्य एवं ऋत के अधीन कर देती है तथा स्वभाव की ऐसी सन्तुलित स्थिति जो आरम्भ से ही धैर्य, स्थिरता, निदिध्यासन, शान्ति, चिन्तन एवं ध्यान की ओर अग्रसर करती है। तथा उच्च चिन्तन एवं शुद्ध जीवन ओर अग्रसर करती है- यह आत्मशक्ति सात्त्विक मन की नींव डालती है व

अधिकाधिक कोमल, उदात्त, निर्व्यक्तित्व सम्पन्न एवं विश्वात्मभावयुक्त व्यक्तित्व में विकसित होती है। श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया कि यदि यह उस ब्राह्मण में सभी पहलुओं के साथ विद्यमान न हो तो उसमें अनेक अपूर्णताएँ व विकृतियाँ उत्पन्न होगी व कोरी बौद्धिकता से युक्त अंहकारी, बुद्धिविलासी, अनुशासनरहित, निशःक्त आदर्शवाद, बौद्धिक, धार्मिक, वैज्ञानिक या दार्शनिक किसी प्रकार की अपूर्णता या विकृति या संकीर्णता होगी।<sup>२८</sup>

श्री अरविन्द के अनुसार ये ब्राह्मणत्व के मार्ग के गत्यवरावेध है इसी प्रकार क्षात्र बल की ओर प्रकृति का झुकाव संकल्पशक्ति व उन क्षमताओं की ओर हो सकता है जो बल, ऊर्जा, साहस नेतृत्व, रक्षण, शासन कार्य में, युद्ध में विजय पाने व सर्जनशील व रचनात्मक कार्य करने में सहायक होती है। इसी प्रकार रक्षा जगत् के प्रगति के अवरोधों को दूर करने में व निश्चित व्यवस्था स्थापित करने में संकल्पशील अत्यन्त प्रबल रूप से कार्य करती है। श्री अरविन्द के अनुसार अन्तरात्मा व मन की अनेक अपूर्णताओं से क्षात्र बल में भी अनेक विकृतियों उत्पन्न हो जाती है जैसे पाशविक प्रवृत्ति, कोरी शक्ति की पूजा करने वाला, स्वार्थपरायण, आक्रामण, अत्याचारी, अंहकारी दैत्य, असुर, राक्षस।

इसी प्रकार प्रकृति का झुकाव जब हमारे समक्ष एवं व्यावहारिक, व्यवस्थाशील बुद्धि तथा प्राण की एक विशिष्टसहज प्रवृत्ति का उभरा हुआ चित्र प्रस्तुत करता है वह प्रवृत्ति वस्तुओं का उत्पादन, आदान-प्रदान करने की प्राप्ति व उपभोग, नई युक्तियों ढूँढने की, उन्हें व्यवस्थित व सन्तुलित करने की, व्यय व उपार्जन करने, जीवन के सक्रिय सम्बन्धों को उत्तमोत्तम लाभ में परिणत करने की प्रवृत्ति। यह वह शक्ति है जो अपनी ब्राह्म क्रिया में निपुण एवं आविष्कार बुद्धि, वैधानिक, व्यावसायिक, औद्योगिक, व्यापारिक, यान्त्रिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक एवं उपयोगितावादी मन के रूप में प्रकट होती है।

यदि इस प्रकार की शक्ति अपने उच्चतम स्तर पर न हो तो लोभ, लालच, अर्थार्जन मात्र प्रयोजन व उपभोग का अधिक्य रूप विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार मानव प्रकृति की एक अन्य प्रवृत्ति कार्य व सेवा की होती है। श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीनकाल में सेवा या शूद्र बल की आत्मिक प्रवृत्ति को द्विज से बाहर परिगणित किया गया। किन्तु वर्तमान काल में श्रम की महत्ता व प्रतिष्ठा पर बल दिया गया व श्रमिक के घोर परिश्रम को मानव-मानव के सम्बन्धों की दृढ़ आधारशिला के रूप में देखा गया है।<sup>२९</sup>

शूद्र की सुविकसित प्रकृति में घोर परिश्रम करने की सहज प्रेरणा व सेवा की शक्ति होती

है। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा की जो शक्तियाँ अपने अन्दर की सामर्थ्य (शूद्र-प्रकृति) के पूर्ण विकास से सम्बन्ध रखती है जो महत्त्वपूर्ण है—ये शक्तियाँ इस प्रकार है—दूसरों की सेवा करने की प्रवृत्ति, अपने जीवन को ईश्वर व समाज के उपयोगी बनाने, आवश्यक अनुशासन स्वीकार करने, उसका पालन व अनुकरण, ऐसा प्रेम जो सेवा को समर्पित हो, बदले में कोई कामना न हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द ने इन चतुर्विध बलों पर गहन विचार करके हमारे समक्ष वैदिक वर्ण-व्यवस्था को उत्कृष्ट रूप से उपस्थापित किया। सम्भवतः अपने उच्च आध्यात्मिक स्तर के कारण श्री अरविन्द ऋषि प्रज्ञा का साक्षात्कार कर उनके द्वारा प्रदत्त व्यवस्था एवं उच्च कोटि की व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत कर सके।

मनुस्मृति के श्लोक 'जन्मना जायते शूद्रः' को श्री अरविन्द ने स्वीकार किया एवं तदनुसार जन्म से तो मनुष्य अपनी निम्नतम प्रकृति में शूद्र के रूप में उत्पन्न होते हैं व नैतिक व आध्यात्मिक संस्कार के द्वारा द्विज बनने हैं परन्तु अपनी उच्चतम आन्तरिक सत्ता में सभी ब्राह्मण होते हैं। जो पूर्ण आत्मस्वरूप एवं देवत्व को प्राप्त कर सकते हैं। श्री अरविन्द का यह चिन्तन ही वर्ण-व्यवस्था को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

### जाति-व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था ही कालान्तर में विकृतरूप धारण करके जाति-व्यवस्था के रूप भारतीय समाज को दूषित कर रही है जिसके विपरीत परिणाम आज हमारे समक्ष कराल काल के समान विकराल रूप धारण कर चुके हैं एवं उनके वर्ग-संघर्ष, द्वेष, हिंसक परिणामों से समाज की गति के अवरोधक बन चुके हैं। ऋषि प्रज्ञा के आत्मशक्ति की प्रकृति से अन्तरंगता के द्वारा प्रकृति के झुकावों को बाह्य बलादि के रूप में व्याख्यायित कर चतुर्विध वर्ण-व्यवस्था ही स्थापित नहीं की अपितु मानव प्रकृति के चतुर्विध स्तरों एवं शूद्र से ब्राह्मणत्व का मार्ग प्रशस्त किया।

परन्तु मनुष्य की सामान्य स्तरीय प्रकृति ने इस उच्च व्यवस्था को निम्नस्तर रूप में रूपान्तरित कर दिया।

गुण-कर्मानुसार विभक्त वर्ण-व्यवस्था को स्मृतिकारों ने भी सुदृढ़ किया है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम।

क्षत्रियाज्जजातमेवं तु विद्यात् वैश्यात्तथैव च।<sup>१०</sup>

श्री दयानन्द ने भी जाति व्यवस्था का खण्डन किया। वर्ण धर्मों का निरूपण करते हुए



उन्होंने दानादि का खाण्डन किया जैसा कि मनु ने कहा कि— प्रतिग्रहः प्रत्यवरः अर्थात् दान लेना नीच कर्म है किन्तु अध्यापन व यज्ञादि से जीविकोपार्जन उत्तम है।

महर्षि दयानन्द ने ऋषि परम्परा में स्थापित मूल्यों को यथावत् स्वीकार किया परन्तु उन्होंने विवेक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया परन्तु उनके अनुसार वर्तमान व्यवस्था में यह चतुर्विध विभाजन युक्तियुक्त नहीं है। आधुनिक समाज की परिवर्तित प्रवृत्तियों का चतुर्विध विभाजन सम्भव नहीं है।

महात्मा बुद्ध ने भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का विकृत रूप धारण कर चुकी वर्ण व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया। धम्मपद के ब्राह्मणवग्गो में उन्होंने ब्राह्मण को भी परिभाषित किया है—

न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

यम्हि सच्चंच धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥<sup>३१</sup>

अर्थात् जटाओं से, गोत्र से व जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता अपितु जो सत्य, धर्म व शुचिता से युक्त है वही ब्राह्मण है।

इसी प्रकार जिसकी ऐहलौकिक, पारलौकिक तृष्णाएँ समाप्त हो चुकी है, जो आशारहित एवं आसक्ति रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।<sup>३२</sup>

सुत्तनिपात में उन्होंने जन्म से ब्राह्मण शूद्र होने का निषेध किया एवं कर्म को महत्त्व दिया—

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥<sup>३३</sup>

इसका तात्पर्य है कि वर्ण के लिए कर्म ही प्रधान है एवं कर्म के आधार पर कोई शूद्र या ब्राह्मण होता है।

बुद्ध ने जाति व्यवस्था का अत्यन्त तर्कसंगत खाण्डन किया जो तद्ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

महाभारतकार ने भी जाति व्यवस्था को गर्हणीय माना। तथा ब्राह्मण निम्न कर्मों से शूद्र व शूद्र उत्तम कर्मों से ब्राह्मण हो जाता है ऐसा स्वीकार किया।

जैन दर्शन में निरूपित चौदह गुणस्थानों पर भी दृष्टिपात करना प्रासंगिक है— जो चेतना की शक्ति की जगत् में प्रवृत्ति के आधार पर कर्मों का विवेचन करता है तथा गुणों व आचरण के आधार पर जीव की स्थिति को दर्शाता है, ये चौदह गुणस्थान निम्नलिखित है—

- |                       |                       |                       |
|-----------------------|-----------------------|-----------------------|
| १. मिथ्यादृष्टि       | २. सासादनसम्यग्दृष्टि | ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि |
| ४. अविरत सम्यग्दृष्टि | ५. संयतासंयत          | ६. प्रमत्तसंयत        |
| ७. सूक्ष्मसाम्पराय    | ८. संयत अपूर्वकरण     | ९. अनिवृत्तिकरण       |
| १०. सूक्ष्म साम्पराय  | ११. उपशान्तमोह        | १२. क्षीणमोह          |
| १३. संयोग केवली       | १४. अयोगकेवली         |                       |

ये चौदह गुणस्थान वस्तुतः जीव की प्रकृति के सम्बन्ध से उत्पन्न शक्तियों ही हैं जिसके प्रकट होने पर जीव मिथ्यादृष्टि आदि स्थानों की क्रमशः यात्रा करता हुआ चेतन शक्ति के उच्चतम स्तर अयोगकेवली की अर्थात् मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।

गुणस्थान का लक्षण भी इसे स्पष्ट करता है। गोम्मटसार में गुणस्थान की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

**संखेऔ ओद्योति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।**

**जेंहि दुलखिज्जन्ते, उदयादिसु संभवेहि भावेहि।**

**जीव ते गुणसण्णा, णिदिट्ठा सव्वदरसीहिं।**

अर्थात् मोह व योग के निमित्त से जीव के श्रद्धा व चरित्र गुण की होने वाली तारतम्य रूप अर्थात् हीनाधिक अवस्था को गुणस्थान कहते हैं। इसी के आधार पर जैनदर्शन में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा रूप त्रिविध चैतन्य के स्वरूपक का निरूपण किया। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था गुण-कर्मानुसारिणी है कि न जाति-सापेक्ष।

#### **वर्ण व्यवस्था की प्रासंगिकता**

वर्ण व्यवस्था के उपर्युक्त विवेचन व विविध सामाजिक दार्शनिक दृष्टि से कतिपय तथ्य उपस्थित होते हैं।

१. आत्म-चैतन्य प्रकृति के साथ सम्बद्ध हो जगत् में स्वयं को अभिव्यक्त करता है।
२. प्रकृति त्रिगुणात्मक है अतः प्रकृति जन्य प्रवृत्ति भी त्रिगुणात्मक है अतः गुणों की तरतमता से प्रवृत्ति की न्यूनाधिकता प्रकट होती है।
३. गुणजन्य इस भिन्नता से तीन स्तरों पर शक्तियों प्रादुर्भूत होती है—उच्चतम स्तर, साधारण स्तर, निम्नतम स्तर।
४. चेतना शक्ति अपने उच्चतम स्तर पर अपने ब्राह्म क्षात्र, विट् व शूद्र बल के अनुरूप उत्कृष्टतम रूप में प्रकट होती है तो तद्बलानुरूप अपने उत्कृष्ट आचरण द्वारा आत्मा

की अन्तर्निहित गुह्य चेतना से सम्बन्ध प्राप्त कर मोक्ष मार्ग पर प्रवृत्त होती है।

५. साधारण स्तर या निम्नतम स्तर पर प्रकट शक्ति का तदनुरूप आचरण होता है एवं सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट न होने के कारण अनेक विकृतियाँ व अपूर्णताएँ उत्पन्न होती है जिसका विपरीत परिणाम व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दोनों स्तरों पर लक्षित होता है।
६. जन्म से प्रत्येक मनुष्य की केवल एक ही जाति है— जो उसे जन्मना प्राप्त है अर्थात् मनुष्य जाति।
७. प्रत्येक वर्ण समाज दृष्टि से नहीं अपितु व्यक्ति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य उस पुरुष का ही स्वरूप है— उसका मुख उसके ज्ञान-विद्या आदि को प्रकट करता है अतः ब्राह्मण है। उसकी दोनों बाहु रक्षण का कार्य करती है अपनी भुजाओं के द्वारा ही वह स्वयं की व परिवार जनों की रक्षा करने में समर्थ है। अतः बाहु क्षत्रिय है। उसका उरु प्रदेश उसके सम्पूर्ण शरीर को दृढ़ आधार प्रदान करता है अतः वह विट् या वैश्य है तथा पैर उसकी गति को अप्रतिहत करते हैं। आशु स्वभाव (शीघ्रता के कारण) ही शूद्र पद से अभिहित होता है।
८. प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण द्वारा अपने चेतना के स्तर को उच्चतम ले जाकर ब्राह्मण एवं निम्नतम ले जाकर शूद्रत्व को प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन में एक विसंगति दिखाई पड़ती है— ब्राह्मण का शूद्र होना या शूद्र का ब्राह्मण होना— मैं हमने शूद्र को निकृष्ट रूप में स्थापित कर दिया।

यह नितान्त विचारणीय है कि गुण-स्वभाव जन्म से ही प्राप्त है या कर्म से। अतः यह चतुर्विध विभाजन जन्म से ही जन्म के पश्चात् कर्म से। जैसा कि अनेक मतों के द्वारा हमने पुष्ट किया कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण या शूद्र बनता है। महर्षि दयानन्द, स्मृतियों एवं बुद्ध क इस विचार को नितान्त सामाजिक दृष्टि से एवं भौतिक रूप से देखना युक्तियुक्त है क्योंकि यह विचार ऋषि की उस दिव्य प्रज्ञा पर एक प्रश्न चिह्न है ? जिसे समाज की विकृत वर्ण व्यवस्था को ध्यान में रखकर व्यक्त किया गया।

गीता में कृष्ण द्वारा प्रतिपादित ‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः’ में इसके विपरीत विचार है गुणकर्म के विभाग पूर्वक चातुर्वर्णी व्यवस्था का निर्माण हुआ न कि कर्म के अनुसार कोई ब्राह्मण या शूद्र है। गीता भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है। तथा वेदों का अनुसरण करता है। एवं त्रिगुणात्मक प्रकृति को आश्रय बनाने वाले वेदों से हमें परे ले जाता है अर्थात् त्रिगुणाजीत या वेदातीत स्थिति को प्राप्त

करवाता है। ऐसी स्थिति में श्री अरविन्द द्वारा प्रस्तुत चतुर्विध विभाजन ही ऋषि प्रज्ञा का निकटतम है यह विद्वानों को स्वीकारना होगा।

ऋषि प्रज्ञा द्वारा प्रतिष्ठापित व्यवस्था में ब्राह्मण को मुखस्थानीय माना गया—मुख ज्ञान का सम्प्रेषण ही नहीं करता—संवाद भी स्थापित करता है अतः इस महत्तर कार्य को करने वाला ब्राह्मण ज्ञान यज्ञ का पुरोहित ही हो सकता है अन्य नहीं। अपने ज्ञान एवं आचरण के बल से समाज में ज्ञान, अध्ययन, यजन, स्वाध्याय, शान्ति आदि की स्थापना करने उत्कृष्ट कार्य को सम्पन्न करता है। इसी प्रकार ‘क्षतात् त्रायते’ क्षत से रक्षण करने वाल क्षत्रिय बाहु स्थानीय व आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ कर एक स्थिर आधार प्रदान करने वाला वैश्य स्थानीय व अपने श्रम के द्वारा समाज को गति देने वाले पाद के समान समाज रूपी शरीर को गति प्रदान करने वाला शूद्र है।

चूँकि पूर्व से ही निरूपित किया जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणात्मक है अतः त्रिगुणात्मक सृष्टि के परिणाम ब्राह्म-क्षत्र-विट् व शूद्र बल के युक्त है। श्री अरविन्द ने भी इसी तक को स्थापित किया। श्री अरविन्द के अनुसार व्यक्तित्व के इन चार भेदों में से कोई भी यदि अन्य गुणों का कुछ अंश अपने भीतर नहीं लाता तो वह अपने क्षेत्र में पूर्ण नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यदि ज्ञानी मनुष्य में बौद्धिक व नैतिक साहस, संकल्प व निर्भयता तथा नये राज्यों का द्वारा खोलने व जीतने की सामर्थ्य (जो वस्तुतः क्षात्र बल के प्रकट होने से प्राप्त होता है) न हो तो वह स्वतन्त्रता व पूर्णता के साथ सत्य की सेवा नहीं कर सकता, उक्त गुणों के अभाव में वह सीमित बुद्धि का दास बन जाता है अथवा स्थापित ज्ञान का सेवक या कर्मकाण्डीय पुरोहित बन कर रह जाता है ज्ञान को सर्वोत्तम लाभ के लिए प्रयोग नहीं ला सकता जब तक कि उसके सत्त्यों को जीवन के व्यवहारार्थ (जो विट् बल से प्राप्त हो) क्रियान्वित करने के लिए उसके अन्दर अनुकूलशील कौशल न हो अन्यथा वह केवल विचार से ही निवास करता रहता है। अपने ज्ञान को पूर्णतया समर्पित (जो शूद्रबल से प्राप्त है) नहीं कर सकता जब तक कि मानवजाति के प्रति, मनुष्य में अवस्थित भगवान् के प्रति तथा अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति सेवा की भाव उसके अन्दर न हो। इसी प्रकार शक्तिप्रधान क्षत्रिय, व्यवस्था एवं कौशल बल प्रधान वैश्य एवं परिश्रमशील, समर्पण व सेवा बल प्रधान वैश्य एवं परिश्रमशील, समर्पण व सेवा बल प्राप्त शूद्र के विषय में भी सत्य।<sup>३४</sup>

### आधुनिककाल में वर्णव्यवस्था

वर्तमान काल में वर्ण चयन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के पास है किन्तु जाति व्यवस्था

ने एक सुदृढ़-सन्तुलित एवं वैज्ञानिक व्यवस्था को आक्रान्त कर रखा है। यही कारण है वर्ण चयन में गुणों की तरतमता या योग्यता व स्वभाव के स्थान पर स्वार्थ, अर्थलिप्सा व महत्वाकांक्षा ने अपना स्थान बना लिया है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र को न केवल पुनः वेदानुरूप परिभाषित कर उच्चता-हेयता के स्थान पर समान दृष्टि से महत्त्व देना होगा। वस्तुतः वर्तमान युग अर्थ-प्रधान युग है। अर्थप्राप्ति एवं उपभोग के लिए प्रतिबद्ध समाज में श्रम के महत्त्व को स्वीकार होगा। शूद्र बल सामाजिक सम्बन्धों का सुदृढ़ आधार है। श्रम एवं सेवा तो स्थूल भौतिक जगत् में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उसके बिना समाज की गति अवरूद्ध हो जाती है। पं. ब्रह्मानन्द शर्मा ने तो श्रम को सत्य का रूप स्वीकार किया तथा अपने शास्त्रीय ग्रन्थ काव्यसत्यालोक में श्रम को ही काव्य के सत्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया। यद्यपि यह स्थूल दृष्टि से तो उपयुक्त है परन्तु सूक्ष्मतया चेतना के प्रकृति के साथ सम्बन्ध की एक यात्रा है। जिसे आज आर्थिक युग में पुनः नूतनोन्मेष के साथ प्रतिष्ठापित करने की आवश्यकता है।

शूद्र को हेय देखने की प्रवृत्ति ने सम्पूर्ण विश्व में स्वामी-सेवक, शासित-शास्य के रूप में एक अन्य प्रकार के वर्ण-विभाजन को समानान्तर उपस्थित किया। अर्थ की प्रधानता ने धनिक-निर्धन-रूप से भी एक विभाजन प्रस्तुत किया है। वेदों की वैश्विक दृष्टि को इस प्रकार की विचारधारा ने तिरोहित कर सम्पूर्ण प्राणियों के मधु का हरण कर लिया। फलस्वरूप पर्यावरण प्रदूषण, भूमण्डलीय तापन, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विपरीत धर्म (जिसके कारण आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता का प्रसार हो रहा है), असत्य बर्बरता व जड़ता का साम्राज्य उत्तरोत्तर वर्धमान है। वैदिक वर्ण व्यवस्था समाज में समानता के सिद्धान्त पर प्रहार नहीं अपितु समत्व व सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा है। मनुष्य मात्र के लिए निर्धारित कर्तव्य (सार्ववर्णिक धर्म) भी इसे ही प्रमाणित करते हैं। जीवन के पूर्वोक्त मधु को प्राप्त करने एवं व्यक्ति एवं समाज की संचरणशीलता को सम्यक् बनाने के लिए वैदिक वैश्विक दृष्टि को पूरे विश्व को अपनाना होगा।

मुख्यशब्द (Key words) - पुरुषार्थ, मधुप्राप्ति, सह-अस्तित्व, संचरणशीलता, सम्यक्त्व, व्यष्टि, समष्टि, आश्रम व्यवस्था, पंचमहायज्ञ, वर्णधर्म, त्रिगुणात्मक प्रकृति, गुण, कर्म, जाति, अतिमानस, ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, विट्बल, शूद्रबल, श्री अरविन्द, स्वामी, गुणस्थान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बुद्ध, वैज्ञानिकता।

**सन्दर्भग्रन्थाः —**

1. ऐतरेय ब्राह्मण, 7/15

2. *Reading the vedic literature in Sanskrit, department of Sanskrit ऋग्वेद - 10/191/3/4vedicreserve, mum, edu*
3. हरिकृष्णदास गोयनका, ईशादि नौ उपनिषद्, ईशोपनिषद् - 1-2 गीता प्रेस, गोरखापुर सं. 2070
4. महाभारत, शान्तिपर्व - 107/11 गीता प्रेस, गोरखापुर।
5. विश्वम्भनाथ त्रिपाठी, वेदचयनम्, ऋग्वेद 10/12 विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी सं. 2012
6. श्रीमद्भगवद्गीता 18/16 गीता प्रेस, गोरखापुर
7. *Reading the vedic literature in Sanskrit, शत. ब्रा. 12/7/3/1 vedicreserve, mum, edu*
8. श्रीमद्भगवद्गीता-4/13, गीता प्रेस, गोरखापुर
9. स्वामीदयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- पृ. 258, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्दआश्रम, अजमेर
10. स्वामीदयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- पृ. 258, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्दआश्रम, अजमेर
11. श्रीमद्भगवद्गीता- 16/6 गीता प्रेस, गोरखापुर
12. श्रीमद्भगवद्गीता- 16/3,4 गीता प्रेस, गोरखापुर
13. स्वामीदयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश पृ. 616, वैदिक यन्त्रालय एवं वैदिक पुस्तकालय, अजमेर वि.स. 2001 सं.27
14. स्वामीदयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश पृ. 83 वैदिक यन्त्रालय एवं वैदिक पुस्तकालय, अजमेर वि.स. 2001 सं.27
15. स्वामीदयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - पृ. 258, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर
16. श्रीमद्भगवद्गीता 14/5 गीता प्रेस, गोरखापुर
17. श्रीमद्भगवद्गीता 14/6 गीता प्रेस, गोरखापुर
18. श्रीमद्भगवद्गीता 14/7 गीता प्रेस, गोरखापुर
19. श्रीमद्भगवद्गीता 14/8, 9 गीता प्रेस, गोरखापुर
20. स्वामीदयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश पृ. 83 वैदिक यन्त्रालय एवं वैदिक पुस्तकालय, अजमेर वि.स. 2001 सं.27
21. श्री अरविन्द, दिव्यजीवन (अनुवादक-जगन्नाथ वेदालंकार) अध्याय 23, अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, तृतीय आवृत्ति-2003
22. श्री अरविन्द, योग समन्वय (अनुवादक-जगन्नाथ वेदालंकार) अध्याय 15, अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, तृतीय आवृत्ति-2003
23. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित (अनुवाद), धम्मपद-279, मोतीलाल बनारसी दास
24. महाभारत शान्तिपर्व-60/7,8 गीताप्रेस गोरखापुर
25. *Reading the vedic literature in Sanskrit, department of Sanskrit मनुस्मृति - 1/88-91 vedicreserve. mum. edu.*

26. *Reading the vedic litereture in Sanskrit, department of Sanskrit* पाराशरस्मृति – 1/25 *vedicreserve. mum. edu.*
27. *Reading the vedic litereture in Sanskrit, department of Sanskrit* बृहत्पाराशरस्मृति – 5/141 *vedicreserve. mum. edu.*
28. श्री अरविन्द, योग समन्वय (अनुवाद-जगन्नाथ वेदालंकार) अध्याय 15 अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी
29. श्री अरविन्द, योग समन्वय (अनुवाद-जगन्नाथ वेदालंकार) अध्याय 15 अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी
30. *Reading the vedic litereture in Sanskrit, department of Sanskrit* मनुस्मृति – 10/65 *vedicreserve. mum. edu.*
31. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित (अनुवादक), धम्मपद – ब्राह्मवग्गो 10, मोतीलाल बनरसी दास
32. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित (अनुवादक), धम्मपद – ब्राह्मवग्गो 28, मोतीलाल बनरसी दास
33. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त
34. श्री अरविन्द, योगसमन्वय (अनुवादक-जगन्नाथ वेदालंकार) अध्याय 15 अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी

# Psychological Causes of Accumulation and Possession

*Prof. Dharm Chand Jain*

To live a comfortable life a human being needs accumulation or acquisition of enough food, clothes, accommodation and facilities for smooth functioning of daily routine. An animal has no capacity to accumulate these things, but fulfills its biological needs by wandering place to place. Nature has given capacity to some other living beings to accumulate their food i.e. ants collect their food for a certain time being. Birds have instinct capacity to make nests for keeping their eggs and collect food for feeding their issues. An elephant requires food in huge quantity, but it cannot have a capacity for hoarding it even for a second day. It has to wander every day to acquire food. These animals depend every day on nature and have no particular accumulation of food etc. even though they can live their life. Honey-bees are having an instinct capacity to accumulate pollen of different flowers, but they prepare honey for the human beings.

The animals, birds, insects who do not have a capacity of accumulation also bear a possessive nature. Dogs of a street do not allow other dogs in their particular street. If some food is in possession of a dog, it does not allow snatching it by another dog. The wild animals also have a possessive mind; they attack on animals who try to capture their food. We can see possessive nature even in trees and plants. They extend their area of roots to get their food from a distant place.

In this way we can say that tendency of accumulation and possession is a natural instinct in a living being, by which it secures its life. Jaina canons mention that every living being bears four instinct desires (*sañjñā*) of food (*Āhār*), Fear (*bhaya*) copulation or cohabitation (*maithuna*) and possession (*parigraha*)<sup>1</sup> *parigrahasañjñā* is one of them and found in all living beings including plants, insects, birds, animals and reptiles. A human being can have more *parigrahasañjñā* in comparison to other living beings of the earth. This is also a fact that this instinct desire may be

---

*Professor & Head, Deptt. Of Sanskrit , Jai Narain Vyas University, Jodhpur*



overcome through true knowledge and practice.

In plants, insects and animals this *parigrahasañjñā* is found lesser than all other beings of the hell, earth and heaven. Its highest form is available in the heavenly beings, then secondly it is found in human beings.<sup>2</sup> The human beings have instinct tendency to accumulate the things which can be accumulated. Some for a month or a year, but the things like currencies, land, gold, shares etc. can be accumulated for a long time.

*Parigraha* is a technical word of Jaina philosophy which expresses two aspects- (i) Possessive nature and (ii) Accumulation. When a person comes in the contact of an object of a sense organ, then he reacts towards it in the form of desire to have it or aversion of it. Desire to have it is the root of accumulation and nature of possession. The objects may be in the form of word, colour, odour, taste or touch. Someone may like a few of them and somebody may have aversion of them. Liking of them inspires a person to possess them. More and more liking of them motivates a person to accumulate or acquire them for his pleasure and satisfaction. He is attracted to these various objects for his pleasure, luxury and to meet out the natural and artificial needs. He is also attracted towards the human beings and pet animals to possess them for his enjoyment and facilitated status of life. *Āyāraṅgasutta* states that a person engrossed in these animate or in-animate objects wants to experience worldly pleasure from them. This tendency develops without real need and becomes a cause of sorrow, dependence and unhappiness.

*Parigraha* is also defined as '*mūrchā*', which denotes clinging towards the animate and inanimate elements. This clinging adversely affects the awareness and consciousness of a person who is attracted to coveted things, hence it is called *mūrchā* or unawareness to the real truth. The person is captured by his desires and proceeds for accumulation of animate and inanimate things. This is the procedure of commencing *parigraha*.

It has been stated that *parigraha* has two aspects accumulation and possession. Accumulation is an outer collection of material things and possession is an inner ownership of them. A person feels mineness in the collected movable and immovable things and wealth. American

psychologist william James (1890) states that people largely identify themselves with what they possess. Material possessions constitute a significant part of one's self and develop in the process of growing up in the society. James called it the material self<sup>4</sup>. He suggested that one's material belongings, such as home, clothes, car and furniture are all extensions of one's own self<sup>5</sup>.

Sigmund Freud (1856-1939) discussed about 'Oedipus Complex' which is developed at a very early stage of a up-growing child. A child bears exclusive possession of his mother and in a later stage it gets transferred to material things in life<sup>6</sup>. This clinging tendency of a human being happens in search of secureness<sup>7</sup>.

Tendency of accumulation and possession is a psychological impact of worldly material things. Erich Fromm (1900-1980) says- "Accumulating worldly objects has become an obsession for people in the present material age. People are known for the wealth they have, cars they drive, the house they live in etc. People are what they possess.

### **Freedom of possessing**

Human beings are more intelligent and developed than other living beings of the earth. They live in a society with a moral system. They live in a home of their possession. they eat food of their possession, they wear the clothes of their possession. They develop an ownership on these material things by purchasing them in a system. They earn money to purchase the things or make possession on them. This morality through purchasing method has given independence to a person to have more and more things with him. He is authorized to purchase, accumulate and possess as much as he can. Many of the human beings possess the things violating the moral system. They accumulate the things using unfair and illegal means also.

### **Psychological causes of Accumulation and possession**

There are many psychological causes through which a human being is inspired to accumulate or possess the material things.

#### **1. Innate Tendency of Possessiveness**

All human beings have a innate tendency of possessiveness. It is found in animals, insects and plants also. All of them have desire to live, hence they possess all those things which are helpful in their living, but this impulsive tendency is lucidly observed in human beings. British

Psychologist William McDougall (1871-1931) States- "The impulse to collect and hoard various objects is displayed by almost all human beings and is instinctive<sup>8</sup>. Hence it is seen in children also, as Litwinski (1942) observed that children display an impulse to act possessively and assert claims of ownership at a very early stage. It must be an innate tendency<sup>9</sup>. We also observe in the children that they do not want to give toys of their possession to another child. If these are given by parents to other child then he cries or expresses his protest. Some children demand every day for a new toy and they accumulate that in their possession.

## 2. Need for Safety and Security

Every living being wants to live, a human being is also having desire to live. He wants to live with safety and security, hence he indulges in acquiring the things which are helpful in his safe and secured living. He believes that cash money and bank balance can help him in maintaining safety and security. He lives in a safe home and keeps money in abundance for doctors, lawyers, insurers etc. He also accumulates several material things for this need. It is a psychological tendency of some human beings that they do not believe much on their relatives, but believe more on inanimate material things. Although Jain canon **Uttarajjhayaṇa** says that non-vigilant person cannot get any safety or security by money or material things.<sup>10</sup>

## 3. Want of Pleasant and Comfortable Life

When this notion is accepted by most of the people that our pleasant and comfortable life is dependent on beautiful house, rich food, costly clothes, cars, mobiles, televisions etc., then the tendency of acquiring them is boosted. 'More facilities provide more pleasure' becomes the theory of their life. It is alright that sensual pleasure is experienced through various material things grasped by different sense organs. Feeling of Sensual pleasure motivates a person for more accumulation and possession of pleasure giving material things<sup>11</sup>. Desire for luster and luxury also gets place. **Uttarajjhayaṇasutta** says- 'A person longing sensual pleasure is indulged in accumulating material things. In **kathopanisaḍ** Nachiketa was given allurements of these materialistic and sensual pleasure giving things, but he denied to have them and expressed his interest in the knowledge of absolute element soul<sup>12</sup>. Sensual pleasure

is momentary and happiness felt through victory on this is quite permanent.

#### **4. Desire for Social Respect and Prestige**

A person having beautiful house, costly cars, properties, handsome income and bank balance gets respect and prestige in the society. Every human being is a social person and has a desire to live prestigious life. Hence he proceeds towards to earn more and more by hook or crook. Poet Bharṭṛhari (5<sup>th</sup> Century) expressed the world view in the following words- "A person who has ample money is a nobleman, is a wise man, is a scholar, is meritorious, is an orator, is handsome, in this way all qualities lie in money."<sup>13</sup> This statement is almost true in the social behavior of present people. Although the rich people get regard when they serve with their money to the society. Thus importance of money inspires a person to accumulate it for infinite. In the contrary it is also a fact that society pays more honour to those monks who have left all the belongings of their possession.

#### **5. Family Responsibly**

Responsibilities of the family also invokes a person to acquire and accumulate the things more than the demands. Nurturing of children, educating them, arranging marriages of them, buying homes, organizing many social festivals and functions, serving the parents are the main responsibilities in India which need accumulation of money and other material things to fulfill the duty honestly. If a person is having not enough accumulation for fulfilling these responsibilities, is dealt as poor and inferior in the society. Demands of children and wife also inspire a person to be indulged in acquiring more money and all means. Demand of different sarrees, gold and diamond ornaments by wife, demand of costly mobile, laptop, bike and car by children make puzzled a person and he becomes engaged in accumulation of these things.

*Āyāraṅgasutta* makes us cautious that a fool person does violent deeds for others (family members), but individually (in earning etc.) he only gets sorrows and mental perverseness as a result.<sup>14</sup>

#### **6. Competitive Urge and Greed of Prosperity**

A human being is an envious person and wants to win the competition with others. Competitive urge and greed are the such internal causes which

give no limit of acquisition of property, money etc. Business is boosted by these urges. *UttarajjhayanaSutta* explains that- "Greed is enhanced by achievement or acquisition of anything."<sup>15</sup>

Keeping greed in mind wholesalers and stockists make hoardings of various commodities like grain, oil, pulses, onion etc. and create scarcity of them. This mentality to earn more profit instigates the tendency of accumulation. People have to pay more money for buying those commodities. *Āyāraṅga* says- "A greedy person faces trouble though remains ready in day and night for acquiring the coveted things and wealth. His mind remains always engaged in the anxiety to achieve those things. He can do theft and violence also for this purpose."<sup>16</sup> Hence this tendency of greed is avoidable.

*Suyagadāṅgasutta* explains- "A greedy person does not know that he will get expired, he extends his mineness towards the material objects and does sinful activities. He thinks that he will not be old and expired, hence remains in trouble day and night in earning money and collecting other things"<sup>17</sup>.

### 7. There Another Causes According to Economist Thaler

Present Noble prize winner Richard Thaler gives three main causes for more purchasing- (i) Social pressure, (ii) Lack of self-control, (iii) Endowment Effect.<sup>18</sup> All these three psychological points also motivate a person to accumulate the material things. One of these is lack of self-control. A person goes into market to purchase needful thing, but when he is attracted to another thing then he loses his self-control and purchases it without need. In the market "Buy one get one free" such allurements also motivate a person to lose his self-control. Thus accumulation of unnecessary things goes increasing. If my neighbour purchases a car then I also make up my mind to purchase it without any need, thus social pressure also increases the tendency of accumulation. One another cause is a 'limited rationality'. When a person cannot judge the utility of a thing to be purchased even though he purchases it, then that is called endowment effect or limited rationality.

Generally a person has desires, but does not have a power to rationalize them, hence he cannot control his desires and he always remains busy in fulfilling them. He gets affected through advertisements

on television, internet, newspapers, hoardings displayed on roads. He does not evaluate his actual demand and budget. He makes up his mind to buy the particular thing without need. This is another cause of more accumulation.

### **Bad Consequences of Accumulation and Possession**

A Person perceives pleasure and prestige in accumulation and possession of material things, is not true in a wide perspective. Accumulation and possession keep a person in tension and sorrows and the limit of accumulation extends into greed. Greed is always a demerit of human being for himself and for the society. There is no such rule in the world that who possesses more material things is happier and secured. There is no perfect relationship between these two. A saint who does not have accumulation of money, food, land etc. experiences more happiness than a rich man. Hence, we have to resort the tenet of *Aparigraha* of Jain Religion which throughs a light to use the things without mental possessiveness.

There are many bad consequences of more accumulation and possession, some of them are mentioned below:

#### **1. Effects on Economy**

In the view of Economics, tendency of hoarding and accumulation is not legitimate. Liquidity of money and products is necessary for the economic progress. It means in the interest of the society and country accumulation of money, raw material and products is dangerous in the economic progress and welfare of the society. Inflation in price is seen due to hoarding of essential commodities. Land prices go on hike when a person possesses many plots of land. Accumulation on one place creates scarcity at other place, in this way a needy person is deprived of the particular commodity and the economic balance is disturbed.

#### **2. Social Consequences**

When a part of a society uses or collects more of the natural resources and products, the other part of the society is deprived of it and it creates a social inequality. The person, who owns a lot of things, exploits others and the problems of starvation, poverty etc. also take place and thus class distinction also increases.

Person who possesses a lot, flaunts his richness and makes others feel

jealous of it and they are also attracted to want more and more collection of money and material things. Due to this, family disputes and social conflicts arise.

### 3. Moral Consequences

The feeling of possession and the trend of collection makes a person selfish. He wants to achieve more and more by hook or by crook. He becomes involved in black marketing, bribery, tax-evasion etc. for increasing bank balance. Adoption of illegal methods give rise to corruption.

### 4. Environment Harming Consequences

Due to the increased trend of accumulation and collection, environment is getting polluted. Increased usage of air-conditioners in offices and homes, various vehicles on the roads, are increasing environmental pollution. Extreme Mining and exploitation of natural resources are also polluting the environment.

### 5. Spiritual Consequences

Tendency of collection and possession makes a person confused. He is not able to achieve anything like an ox of an oil mill. *Ācārya Shīlāṅka* in his commentary on *Suyagadaṅga* says- "Possession creates a trouble and harms even to the wise man."

Accumulation without need and tendency of possession takes place due to lack of right view and wisdom. Ownership of material things nurtures an egoistic view, deceitful conduct and greedy nature. The person who is indulged in accumulation and possession never feels happiness and peace in mind. He remains in sorrows and creates sorrows for others. His nature of sensitiveness also disappears. Hence the tendency of accumulation and possession is to be renounced on spiritual level.

### 6. Consequences to Health

A man having possessive nature remains mentally and physically ill. The persons having more materialistic things are seen as patients of various diseases. They live in depression, tension, blood-pressure, Heart disease etc.

In this way accumulation and possession beyond a limit creates the path of sorrows in place of pleasure and happiness. Accumulation is justful in a limit for fulfilling the needs. *Āyāraṅgasutta* propounds that a person

should come out of possessive nature.<sup>20</sup> Accumulation cannot take place without desires; hence we should control our desires of luster and luxurious life. A man should not be slave of the material things if he wants to live happy life.

If accumulation is done in the interest of welfare of all other people, then it can be justified. It should be used by them who are not able to earn such as children, old men and patients. Flowing water remains pious and accumulated water can get spoiled after a certain period of time. The same way flowing money is more useful than its accumulation at one place.

### **Some Solutions to Overcome the Psychological Causes**

The Psychological causes which instigate a person for accumulation and possession, can be overcome through right knowledge or inner wisdom. The texts of Jain, Buddhist and vedic traditions give such arguments which provide a vision to diminish the attitude of accumulation and possession. Jaina text **Uttarajjhayaṇa Sutta** says- "If the whole world is given to a person, he cannot be satisfied through it due to his greed."<sup>21</sup> The person of possessive nature feels always fear of loss or theft of the things of his possession. Attachment to these things is a cause of sufferings and dissatisfaction. *parigraha* is a sin and it gives sufferings to a person indulged in it. *Parigraha* means capturing by a person from all sides. A thing, a servant, a thought is captured by a person in his possession with attachment is *Parigraha*. The person is also captured mentally and emotionally by those things and animate belongings.

According to **Thānaṅga Sutta** *parigrahasañjñā* arises in a human being due to four reasons- 1. Contact of things, 2. Greed, 3. Information gained through any source which motivates a person for having a thing, 4. Continuous thinking about the accumulation and possession.<sup>22</sup> Although *parigrahasañjñā* is an instinct desire, nobody trains us to have this desire, but it arises due to above four reasons in our life. When we come in the contact of things which seem us proper to fulfill our need, to give pleasure or comfort to us, we make up our mind to have them. We have impressions of the things which look us favorite or lovely, hence we intend to have them more and more. This tendency converts into greed and greedy person becomes a slave of those things and tries for more accumulation and possession of those things. Generally we do not know about many things,



hence we do not have any desire to have them, but when we know about them through advertisements on television channels, on internet, on hoardings or through mouth of others then we feel attracted to those things. Most of us are not satisfied and happy with the things we have but feel scarcity of what we do not have. This tendency generates sufferings and tension to us. There is no pleasure or happiness inside the things, but it is our inner view which make us to feel pleasure in their presence and use. It is also true that we can experience happiness even in the absence of those things. However physical need or necessity can be fulfilled, but inner tendency of greed and possessive nature cannot be quenched by the material things.

Everybody wants to become prosperous, but what is the definition of prosperity? Generally a person having abundance of material things and wealth is considered as prosperous, because he has enough means to fulfill his natural and artificial needs. He should be happy always, but it does not happen. The person who is having more is seen unhappy in the world and has more wants or demands for accumulation and possession of material things. He seems poorer than the poor persons of the world. In this way prosperity and happiness do not bear true relationship in between. The person having lesser accumulation and possession is seen happier than the person having abundance of wealth. This truth is to be conveyed to all the people of the world to remove the present concept of prosperity and happiness. The inner thought and wisdom to live happily with lesser desires in every condition is to be established and developed in the people of the world. This truth is quite helpful in the psychological change of the people. Economist Alan Krueger and Noble Prize Winner Psychologist Daniel Kahneman say after a study- "The belief that high income is associated with good mood is widespread but mostly illusory." People with above average income are relatively satisfied with their lives, but are barely happier than others in moment to moment experience, tend to be more tense and do not spend more time in particularly enjoyable activities."<sup>23</sup> Hence a race for earning more and more money without any balance and happiness in life is avoidable. There should be also a balance in keeping things in possessions to fulfill the needs and after that these should be given or distributed among the destitute and needy persons.

Psychologist Frued propounds three inner Factors of personality i.e. Id, Ego and Super ego<sup>24</sup>. The instinct tendency of possessiveness occurs due to Id part of the personality. The Id is governed completely by the pleasure-pain principle and seeks immediate satisfaction of all desires disregarding the moral principles and realities of life. The Ego is self-conscious intelligence aware of what is going on around in the physical and social environment. There is awareness of the consequences of behaviour and attempt is made to make a balance between the needs and demands. In this way some control over accumulation and possession is maintained by this Ego factor of the personality. The super ego part is capable to have complete control over the tendency of unnecessary accumulations and possessions. Super ego is governed by the ideas of conscience, and can develop the moral and rational behaviour which can be helpful in controlling the instinctive desire of *parigraha*. Super ego may condemn the doing of the Id and the Ego and tries to keep the individual on the line of morality and ideals it has learned. Hence it is possible to activate the super ego part of an individual and to convey him the right track of controlling the tendency of accumulation and possession with keeping a limit on desires and wants.

Psychology of an individual may be changed through spiritual teachings, logical statements and discussing the bad consequences of accumulative and possessive tendency. Possessive nature generates tension and sufferings to a person and problems to the society, economy and environment of the world hence this tendency should be diminished and restrained for the benefit of the self and the world of the all living beings. The Jaina canons suggest to quit the possessive nature whether an individual possesses more or less material things.

BhavatuSavvaMangalam.

Sarvebhadranipashyantu.

Mitti me Savvabhuyesu.

**Reference books:**

1. ĀyāraṅgaSutta (ĀcārāṅgaSūtra) :ĀgamaPrakāśanaSamiti, Beawar.
2. Beyond sustainable economy, Edited by sushmasinghvi and Rudi Jansna, PrakritBharati Academy, Jaipur, 2016
3. Dravyānuyoga (Part-1), ĀgamaAnuyogaPrakāśanaSamiti, Abu Parvat (Raj.)
4. H.R. Bhatia : Elements of social Psychology, 1970, Bombay :Somaiya Publications Pvt. Ltd.

5. Kathopaniṣad, Geeta Press, Gorakhpur (U.P.)
6. Nītiśataka, SahityaBhandar, Meerut (U.P.)
7. SuyagadaṅgaSutta (SutrakritangSūtra) : ĀgamaPrakāśanaSamiti, Beawar.
8. Suyagadaṅgatīkā, Motilal Banarsi dass, Delhi
9. ThāṇaṅgaSutta (Sthānāṅgasūtra) : ĀgamaPrakāśanaSamiti, Beawar.
10. Uttarajjhayaṇasutta (UttaradhyāyanaSūtra), SamyagJnanaPracaraka Mandala, Jaipur (Raj.)

**Reference :**

1. Thāṇaṅgasutta 4.4.356 : चत्तारि सण्णाओ सण्णाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णापरिगहसण्णा।
2. Dravyānuyoga, Part I, sañjñāAdhyāyana, p 283-284 also in paṇṇavaṇasutta, pada 8, sutra 730-737
3. Āyāraṅgasutta 1.2.3.79 : सेतत्थगढितेचिद्वेतिभोयणाए।
4. The material self (an article by Ajit K. Dalal) in Beyond Sustainable Economy, Edited by sushmasinghvi and Rudi Jansna, PrakritBharati Academy, Jaipur, 2016, p. 206
5. Ibid p. 206
6. Ibid p. 207
7. Ibid p. 207
8. Ibid p. 207
9. Ibid p. 207
10. (i) Uttarajjhayaṇasutta 4.5 : वित्तेताणं न लभेपमत्ते। (ii) Kathopaniṣad (1.1.27) also says : न वित्तेनतर्पणीयोमनुष्यः। (iii) Suttanipāta 3.1.2.18 : तण्हादुक्खास्सम्भवं as quoted in BauddhaSubhasita, p. 89
11. ĀyāraṅgaSutta 1.3.2.113 : कामाणुगिद्धा निचयंकरंति।
12. See Kathopaniṣad 1.2.23-29
13. Nītiśataka : यस्यास्तिवित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः सश्रुतवान्गुणज्ञः। स एव वक्ता सच दर्शनीय सर्वगुणाः काश्चनमाश्रयन्ति॥
14. ĀyāraṅgaSutta 1.2.3.79 : इतिसेपरस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बालेपकुव्वमाणेतेणदुक्खेणमूढे विप्परियासमुवेति।
15. Uttarajjhayaṇasutta : लाहाहोहोपवड्ढइ।
16. ĀyāraṅgaSutta 1.2.2.72 : अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकलसमुट्ठायीसंजो गट्ठी अट्ठो लो भी आलुं पे सहक्कारे विणिविट्ठु चित्ते एत्थसत्थोपुणोपुणो।
17. SuyagadaṅgaSutta 1.10.18 : आउक्खयंचेव अबज्झमाणे, ममातिसेसाहसकारिमंदे। अहो य रातोपरितप्पमाणे, अट्ठेसमुमूढे अजरामरव्व॥
18. ĀyāraṅgaSutta 1.2.3.79 : इतिसेपरस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बालेपकुव्वमाणेतेणदुक्खेणमूढे विप्परियासमुवेति।
19. Suyagadaṅgatīkā 1.1.1 : प्राज्ञस्यापिपरिग्रहोग्रहइवक्लेशायनाशाय च।

20. ĀyāraṅgaSutta 1.2.5.89 : परिगहोओअप्पाणंअवसक्केज्जा।
21. Uttarajjhayaṇasutta8.16 : कसिण पि जं इमंलोयंपडिपुण्णंदलिज्जइक्कस्सकसिणं पि जं  
इमंलोयंपडिपुण्णंदलिज्जइक्कस्स। तेणाविसे ण संतुस्से, इइ दुप्परए इमेआया।।
22. Thāṇāṅgasutta4.4 : चउहिंठाणेहिंपरिगहसण्णासमुप्पज्जई, तंजहाअसुत्तयाए,  
लोभवेयणिज्जस्समकम्मस्सउदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं।
20. H.R. Bhatia : Elements of social Psychology, 1970, Bombay : Somaiya Publications  
Pvt. Ltd., P. 151
21. DNA, Mumbai, 26<sup>th</sup> August, 2006

# Celestial Bodies In Vedic Scriptures

*Dr. Jitendra Vyas*

## INTRODUCTION

The Vedic literature, most ancient literature of India, including the Brāhmaṇas and early Upanishads, contains no listing of the five planets by name. The *Vedāṅga Jyotiṣa*<sup>1</sup>, the earliest Vedic astronomical text, mentions the Sun, Moon and constellations (*Nakṣatra*) but not the planets. The first clear reference to the planets by name is found in the epic, the *Mahābhārata*<sup>2</sup>, which is generally dated around the second century BC (though much of its material is regarded as several centuries or more older). For this reason some scholars have proposed that the Vedic people were not aware of the planets and knowledge of them came from an outside, source possibly as late as the Greeks after the time of Alexander (300 BC).

There is, however, much evidence to show that the Vedic people did know of the planets, but the existing Vedic literature, being non-astronomical in nature only referred to them indirectly and symbolically, and generally as a group among the other heavenly bodies. The *Vedāṅga Jyotiṣam*<sup>3</sup> being concerned with a calendar depending upon Sun and Moon positions relative to the Nakṣatras did not need to consider the planets and hence does not mention them.

The Vedas contain a system of astronomy dividing the zodiac into 27 or 28 lunar constellations (Nakṣatras). The full listing of Nakṣatra occurs as early as the Yajur Veda (*Taitirīya Saṃhitā*)<sup>4</sup>, and *Atharva Veda*<sup>5</sup>, while several Nakṣatras and the term Nakṣatra itself occur several times in the oldest Vedic text, the Rg Veda. The Brāhmaṇas describe positions of the new, full, or half moon in these Nakṣatra, including as beginning the year (for example *Kauṣītaki Brāhmaṇa*)<sup>6</sup>.

It should be noted that the Nakṣatra system is a highly practical practical and scientific division of the zodiac, because it provides a different

constellation for the Moon to occupy every day. Thereby it allows for precise observation of the Moon's position relative to the stars. Once it is determined what Nakṣatra the Moon occupies, the Nakṣatras for the remainder of the month will follow in sequence.

The number of *Nakṣatras* being either 27 or 28 is reflection of the fact that the Moon traverses the zodiac in 27.3 days. To keep the sequence in order a twenty-eighth Nakṣatra has to be inserted periodically. This is like the lunar month being 12 or 13 as there are 12.3 lunar months in a year, necessitating the insertion of an occasional intercalary month.

We will not go into the controversial issue of the dating of Vedic texts. The most conservative estimates place them in the pre-Buddhist era from the *Rg Veda* to the *Brāhmaṇas* about 1500-700 BC. The most liberal estimates, including those done in light of recent archaeological evidence of the Sarasvatī river in India, pushes the earlier texts before 1900 BC, when the Sarasvatī River which they prominently mention ceased to exist as perennial stream. This agrees with the astronomy of the texts also. The *Brāhmaṇas* place the Kṛttikās (Pleiades in Taurus) in the eastern direction (*Śatapatha Brāhmaṇa*)<sup>7</sup>, the direction of the vernal equinox. The *Arharva Veda*<sup>8</sup> places the solstice (ayana) in Maghā (Leo). Such data reflects a period of around 2500-2000 BC. For information on this subject one can examine my book *Gods, Sages and Kings: Vedic Secrets of Ancient Civilization*. The point of this particular article is to show that there was a Hindu knowledge of the planets back into the Vedic era.

#### **THE TERM NAKṢATRA ORIGINALLY INCLUDED THE PLANETS**

There is evidence that the term Nakṣatra originally included the planets, along with the Sun and Moon. Nakṣatra probably originally meant star or heavenly body, which would naturally include the planets. We should note that all cultures originally included the planets among the stars and discriminated between fixed and moving stars, the latter being the planets. We would expect the same inclusion in the earlier phase of Vedic astronomy.

In the *Mahābhārata*<sup>9</sup> and *Purāṇas* the *Nakṣatras* are considered to be the daughters of the creator *Dakṣa*, who were given as wives to the Moon, of which Rohiṇī was the favourite. The Moon as the moving force was

considered to be masculine, and the *Nakṣatras* as the places through which the travelled were regarded as feminine.

However, in the Yajur Veda (*Taitirīya Saṃhitā*)<sup>10</sup> the daughters of Prajapati (another name for creator *Dakṣa*) are said to be 33, not 27. They are also given in marriage to the Moon, of which again Rohiṇī is the most favourite. Who were these 33?

Its is unlikely that these were 33 constellations, because such a division of the zodiac makes no sense. The division by 27 provides the Moon with a different constellation every day. A division by 33 would cause insurmountable difficulties to calculate, particularly for calendrical purposes which was the main use of the *Nakṣatras*. If the 33 included extra zodiacal constellations there is no explanation as to how the Moon could unite with them as it would never pass through them. Hence we can rule out the 33 being constellations.

There are 33 Gods in Vedic literature which are said to be the 8 Vasus, 11 Rudras, 12 Āditya (Suns) and 2 Aśvins. This could not have been the group of 33, as the Vasus and Rudras relate the phenomenon of the earth atmosphere, not the heavens, and are not considered to be wives of the Moon.

Meanwhile we note that in the *Rg Veda* the term *Nakṣatra* is used for the Sun. This means that it could have been used for other heavenly bodies like the planets. Elsewhere in the *Rg Veda* there are 34 lights of a common nature of which the most important is the Sun.

Vast is that secret name and all-reaching, through which you generated what has been and what will be. The five beloved ones have entered into its originals born beloved light.

He filled the two firmaments and the middle region, the five Gods by the seasons seven by seven. With thirty-four lights of common nature and diverse laws his light spreads in many ways. (*Rg Veda*)<sup>12</sup>

The 34 must be the 27 *Nakṣatras*, Sun and Moon and five planets. The five Gods may also be the five planets.

**Yamena Dattaṃ Trita Enamāyunagindra Eṇam Prathamā Adhyatiṣṭhat / Gandharvo Asya Raśanāmagrbhṇātsūrādaśrvaṃ Vasavo Nirataṣṭha //**<sup>13</sup>

The sacrificial horse, identified with the Sun (*Rg Veda*) is divided into 34 parts (*Rg Veda*)<sup>14</sup>, which are divided according to the seasons (*Rg*

*Veda*)<sup>15</sup>. As the horse sacrifice (Aśvamedha) is one the most important Vedic rituals, it appears that the planets were included in this symbolism. In fact we note that the Nakṣatras are said to be form (rupa) of the sacrificial horse and the year is said to be his soul (Yajur Veda, Taitirīya Saṃhitā<sup>16</sup>; Bṛhadaāraṇyaka Upaniṣada)<sup>17</sup>. The planets, therefore, must have been among these 34 parts of the horse which is all the Nakṣatras, including the Sun.

Therefore, the 33 wives of the Moon are the 27 Nakṣatras, the Sun and five planets and the Moon himself it the thirty-fourth. Affirming this we note that there is an entire hymn in the *Rg Veda*<sup>18</sup>, which also occurs in the *Atharva Veda*<sup>19</sup>, describing the marriage of the Moon God with the Sun Goddess, which apparently occurs at the winter solstice. Just at the Sun and constellations were regarded as wives of the Moon, so must have been the planets.

The Moon is the fastest moving of the heavenly bodies. In this regard it could be looked upon as the male who activates or fertilizes the other heavenly bodies it comes in contact with, including the Sun and planets which move slower than it does.

**Amī Ye Pañcokṣaṇo Madhye Tasthurmaho Divaḥ /  
Devatrā Nu Pravācyam Sadhrīcīnā Ni Vāvṛturvittam Me Asya Rodasī**

□

The *Rg Veda*<sup>20</sup> also speaks of the five bulls that dwell in heaven, which are probably the five planets. As the Moon by moving through the Nakṣatras activates them, so must the other planets. To call the planets bulls (ukṣa) suggests this impregnating action. If the action of the planets was known, it must have been watched and calculated.

There are also said to be seven horses of the Sun (*Rg Veda*)<sup>21</sup>. These seven probably included the Sun, Moon and five planets, as the horse has been identified as having the form of the Nakṣatras.

#### **THE VEDIC RITUAL AS GAINING THE HEAVENLY BODIES.**

The heavenly bodies were important to the Vedic religion, in fact central to it. The Taitirīya Brāhmaṇa<sup>22</sup> states:

Those who sacrifice here attain heaven beyond. This is the nature of the Nakṣatras. The idea is that by the sacrifice one goes to the heavenly



bodies and their resident deities. The very term Nakṣatra means what is obtained by sacrifice.

**Tvaṃ Tān Vṛtrahatyē Codayo Nṛṇ Kārpāṇe Śūra Vajrivaḥ /  
Guhā Yādī Kavīnām Viśām Nakṣatraśavasām** □<sup>23</sup>

A similar verse occurs in the *Rg Veda*, which speaks of the secret of the peoples of the seers who have the power of the *Nakṣatras*. Yet more clearly the *Rg Veda* states:

Like a dark horse ornamented with pearls, our fathers (the seers) made the *Nakṣatras*. They placed the darkness in the night and the light within the day. Bṛhaspati broke open the rock and found the rays (cows). *Rg Veda*<sup>24</sup>.

Not only do the seers gain the stars, the original seers, the Vedic fathers, were regarded as creators of the stars. How could they fail to include the planets among them, the brightest of the stars? Their leader in fact here is Bṛhaspati, whose planetary role as Jupiter would make perfect sense here. Jupiter is the planet that is more regular in its movements, its brightness and its closeness to the ecliptic. Hence it would quite likely be regarded as a prototype for cosmic law.

Meanwhile, the Upanisads contain paths that lead to the Sun and the Moon (*Chāndogya*)<sup>25</sup>. This again related the goal of Vedic knowledge to the reaching of various heavenly bodies, the foremost of which is the Sun. The *Taittiriya Āraṇyaka*<sup>26</sup> states :

The seven seers and Arti, all the Atris and Agastya, dwell with the Nakṣatras giving blessing.

The seven seers are identified with the stars of the Big Dipper also called the Bears, by the Vedic people. Agastya and the eighth is the star Canopus. However other stars and the planets have been identified with the Ṛṣis.

These ideas reflect connections between the stars and karma, such as became the basis for astrology. In this regard the *Mahābhārata*<sup>27</sup> states, “the *Nakṣatras* beyond shine by karma.”

The two main Ṛṣi families in the *Rg Veda* are the Angirasas, of which Bṛhaspati is the foremost, and the *Bhṛgu* of which Kavi, Śukra is the most important. Bṛhaspati is the Hindu name of Jupiter and Śukra of Venus in later Hindu astronomy. Bṛhaspati as the priest of the Gods corresponds

well with the role traditionally given to Jupiter. Śukra as the priest of the demons as well as the Gods agrees with the role of Venus. In fact one Bṛghu seer is called *Vena* (note *Ṛg Veda*)<sup>28</sup>, perhaps the ancient Vedic equivalent of the Roman Venus.

While some scholars have argued that the planetary identity of these seers came later, it is difficult to believe that the Vedic people could so faithfully and logically note the Nakṣatras, noting where the Moon resided every day, and failed to note Venus and Jupiter which are much brighter than any star! These are the two stars that are most like seers and have ever inspired human beings to greater visions.

In this regard Vedic astronomy employs a 60 year cycle based upon 5 X 12 years, with 12 years being the period of Jupiter's orbit around the Sun. Such a 60 year cycle is found among the Chinese, who also have 28 lunar constellations and call the seven stars of the Big Dipper the seven seers, just as in the Vedic tradition. These traditions are not found in Greek or Babylonian astronomy. Such a *Nakṣatra* related Jupiter calendar would naturally suggest a knowledge of Jupiter along with that system.

In traditional Hindu astrology each planet is related to a particular Vedic seer family, as well as to certain deities. In this regard Indra, the greatest of the Vedic Gods, is associated with the planet Jupiter. This is quite impelling in that Roman Jupiter or Dyaus Pitar as the river of the rains is clearly the Roman equivalent of Vedic Indra.

Yet while the ancients named the planets after their Gods, this does not mean that the Gods and their activities only referred to the planets. We cannot accept all the mythology of the Greco-Roman Gods as planetary in nature, even for deities like Jupiter or Mars who had Greco-Roman Gods as planetary in nature, even for deities like Jupiter or Mars who had planetary correspondences. Similarly Vedic Gods like Bṛhaspati or Indra stood for much more than on particular planet. The point is that we cannot exclude the planets from their symbolism.

#### THE PLANETS AS GRAHA OR SOMA CUPS

The *Atharva Veda* contains clear references to the planets and the nodes of the Moon in a hymn that relates to various astronomical and meteorological phenomena. For the planets it uses the term *graha*, which is the classical Sanskrit term for them.

May the earthly and atmospheric powers be peaceful to us. May the planets that move in Heaven give us peace. May the planets (*grahaḥ*) and the Moon give us peace. May the Sun and Rāhū give us peace. *Atharva Veda*<sup>29</sup>.

This hymn not only mentions the planets but also *Rāhū* or the north node of the Moon, which suggests a knowledge of eclipses and possibly the ability to predict them. Another name for *Rāhū*, *Sarvbhānu* appears in *Ṛg Veda*<sup>30</sup>. Yet another hymn from the *Ṛg Veda*, while speaking

**Saptabhiḥ Putrairaditirūpa Praitpūrvyaṃ Yugam** □

**Prajāyai Mṛtyave Tvatpunarmārtāṇḍamābharat** □<sup>31</sup>

of the seven sons of *Aditi* or *Ādityas*, whom I would identify with the Sun and Moon and five planets, adds an eighth called *Martāṇḍa* or the mortal egg, which is responsible for birth and death. This eighth sun which is imperfectly born or mortal, I would also identify with *Rāhū*. The eclipses of the Sun reflects the births and deaths or creatures, as each time the Sun is eclipsed it dies and is reborn.

The term for planet, *graha* is very interesting, because it is a ritualistic Vedic term for the cups of Soma that can be offered to the different Gods. The Soma cup is well known to be the Moon which is filled during the waxing half and emptied during the waning half.

The wise sages with their words fashion the one being, the eagle, in various ways. Sustaining the meters in the rituals, they measure twelvefold the cups of Soma *Ṛg Veda*<sup>32</sup>.

The twelve *grahas* are obviously the twelve moons of the year. The planets, like the Moon, also have their motions whereby they wax and wane. This is most true of the planets which are inferior to the earth's orbit, namely Venus and Mercury. Venus most noticeably fills with light as it moves from the Sun and loses the light as it falls back into the Sun and disappears. Yet Mars also goes through significant fluctuations of brightness during its synodic period. Undoubtedly, the term *graha* for planet arose from this observation of the fluctuations in the planetary light like the Moon. The term *graha*, thereby, suggests as observation of the waxing and waning of the brightness of the planets through their synodic periods.

The term *graha* for planet indicates that the planets may have been an integral part of rituals wherein different cups of *graha* were offered to the

God (who himself is Heaven or the Sun). The planets may have been considered to be different types of Soma cups.

Two soma cups are particularly interesting. One is Śukra said to relate to the Sun and Manthin related to the Moon (*Śatapatha Brāhmaṇa*<sup>33</sup>). Śukra as a name for Venus may be meant here, as the brightest star it could be related to the Sun. Manthin could be Mercury who is the son of the Moon in Vedic astrology.

The *Rg Veda*<sup>34</sup> speaks of seven suns (*Ādityas*) relative to the seven directions, which may be the Sun, Moon and five planets. They are related to the seasons, which in India are six with the seventh being the Sun as the year (*samvatsara*). In Classical Vedic astrology the six seasons of spring, summer, rains, autumn, the cold and the frosty seasons are ruled by Venus, Mars, Moon, Mercury, Jupiter and Saturn. This may reflect an earlier Vedic view. The six seasonal Soma cups (*ṛtu graha*) may have had planetary correspondences.

### CONCLUSIONS

In the early Vedic period the planets were included among the *Nakṣatras* or stars as the 34 lights or 33 wives of the Moon. About the time of the *Yajur Veda* the term *Nakṣatra* became more limited in meaning to the fixed star systems along the zodiac 27 or 28 in number. At this time the planets became differentiated as Soma cups (*graha*), and a more defined mythology of the planets gradually emerged including Vedic deities and Vedic seers, yet with probable antecedents going back the *Rg Veda*.

Astronomy in the Vedic period to the *Brāhmaṇas* included noting the position of the Moon (and Sun) in the 28 *Nakṣatras*, noting solstice points, as the Vedic ritual year began with the winter solstice (note *Kauṣītaki Brāhmaṇa*)<sup>35</sup>. It also involved a calculation of the phases of the Moon and the lunar days or *Tithis* (a 30 fold division of the lunar month of 29.5 days according to *Sūryasiddhānta*<sup>36</sup>). In addition, it must have noted the movements of the planets, particularly the Moon's conjunction with them. Such combinations (lunar *yogas*) are well explained in classical Vedic astrology which has no real counterpart among the Greeks.

The Vedic ritualists saw union with the heavenly bodies as the goal of their practice. This could include merging into the Sun, The Moon, the *Nakṣatras* or other stars (like the stars of the Big Dipper or Canopus). It

must have, therefore, included the planets as well. The Vedic seer families of the *Angirasas* and *Bhṛgu*<sup>37</sup> associated themselves with the planets Jupiter and Venus as these were the two brightest planets. There may have been longer Vedic calendars based upon these planets, like the 60 year cycle of Jupiter. The Vedic kings traced their descent from the Sun and Moon apparently with symbolic connections with Mercury, and with Jupiter and Venus as relating to their priestly guides, the *Angirasas* and *Bhṛgu*. Hence there are strong astronomical considerations throughout the Vedas suggesting an early and independent tradition of astronomical observation, including the planets. This research paper requires further exploration, which necessitates giving up the idea that there is no real astronomy or mathematics in the Vedas, which now appears as no more than a prejudice of Eurocentric thinking.

#### ***Bibliography***

1. Atharva Veda, Ajmer India: Srimati Paropakarini Sabha 1974.
2. Mahābhārat, Gorakhpur, India: Gita Press, 1980.
3. Rg Veda, Ed. S.D. Satvalekar, Paradi, India: Svadhyaya Mandals, 1976.
4. Kauṣṭiki Brāhmanā, Varanasi, India. Ratna Publications 1987.
5. Śatapatha Brāhmaṇa, Delhi. India: Nag Publishers 1990.
6. Sūryasiddhānta – An Inherent Almanac, Dr. Jitendra Vyas, Mumbai, India, Opencryons.com, 2016
7. Taitirīya Āraṇyaka, Delhi India: Motilal Banarsidass, 1984
8. Bhṛgsutra- An Ancient Asset, Dr. Jitendra Vyas, Mumbai, Worditt Publications, 2016
9. Taitirīya Saṃhitā, Ed. S.D. Satvelkar. Bahalgarh, India: Yudhisthira Minamsaka, 1988.
10. Vedanga Jyotisa of Lagadha, T.S. Kuppanna Sastry trans. New Delhi. India. Indian National Science Academy. 1985.
11. Vedāṅga Jyotiṣam, Dr. Jitendra Vyas, Jodhpur, Royal Pubcation, 2015

#### ***Reference books:***

1. Vedāṅga Jyotiṣa, Pg. 45
2. Mahābhārata (Udyoga Parva 143.8-11, Bhīṣma Parva 2.32;3.11-18, 27-28)
3. Vedāṅga Jyotiṣam, Pg. 63
4. (Taitirīya Saṃhitā (IV.4.10)
5. Atharva Veda (XIX. 7) A hymn recommending the protection of various Gods: Mitra arose with Earth. To that fort I lead you: enter it, occupy it. Let it give you protection

and defence. Vāyu arose with Air. To that fort, etc. Sūrya arose with Heaven. To that fort, etc. Chandramās arose with the Constellation. To that fort, etc. Sacrifice arose with Priestly Fees. To that fort, etc. Ocean arose with the Rivers. To that fort, etc. Brahma arose with the Brahmachārīs. To that fort, etc. Indra arose with Might. To that fort, etc. The Gods arose with Immortality. To that fort, etc. Prajāpati arose with Creatures. To that fort I lead you: enter it, occupy it give you protection and defence.

6. Kauṣītaki Brāhman (IV.4-12; V.1-2)
7. Śatapatha Brāhmaṇa (II.1.2.3)
8. Arharva Veda (XIX.7.2)
9. Mahābhārata (I.66.16-16)
10. Taitirīya Saṃhitā (II.3.5.1)
11. Rg Veda (VII.86.1; X:88.13)
12. Rg Veda (X.55.2-3)
13. Rg Veda (I.163.2)
14. Rg Veda (I.162.18)
15. Rg Veda (I.162.19)
16. Taitirīya Saṃhitā (VII.5.25)
17. Bṛhadaāraṇyaka Upaniṣada (I.1)
18. Rg Veda (X.85)
19. Atharva Veda (XIV.1)
20. Rg Veda (I.105.10)
21. Rg Veda (I.164.2)
22. Rg Veda (I.V.2)
23. Rg Veda (X.22.10)
24. Rg Veda (X.68.II)
25. Chāndogya (V.10)
26. Taittirīya Āraṇyaka (I.11.49)
27. Mahābhārata (Udyoga Parva 29.15)
28. Rg Veda (X.123)
29. Atharva Veda (XIX.6.7,10)
30. Rg Veda (V.40)
31. Rg Veda (X.72.9)
32. Rg Veda X.114.5
33. Śatapatha Brāhmaṇa (IV.2.1.2)
34. Rg Veda (IX.114.3)
35. Kaustikī Brāhmanā (XIX.3)
36. Sūryasiddhānta, Chapter 5
37. Bhṛgsutra, preface

